श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

दर्शनपाहुड प्रवचन

प्रवक्ता—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

सम्पादक—

पवन कुमार जैन ज्वैलर्स
सदर मेरठ

प्रकाशक—

खेमचन्द जैन सर्राफ
मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण १०००
सन् १९७८

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी जैन ध० प० श्री ला० महावीरप्रसादजी सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लालचंद विजयकुमार जी जैन सर्राफ सहारनपुर
(४) श्रीमती शशिकान्ता ध० प० श्री धनपालसिंहजी सर्राफ सोनीपत
(५) ,, सुवटी देवी जैन ध० प० श्री चिरंजीलाल जी जैन सरावगी गिरिडीह

नवीन स्वीकृत संरक्षक

(६) श्रीमती जमना देवी जैन ध० प० श्री भंवरीलालजी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(७) ,, रहती देवी ध० प० श्री विमलप्रसाद जी जैन मसूरपुर
(८) ,, श्रीमती जैन ध० प० श्री नेमिचदजी जैन, प्रेमपुरी मुज०
(९) ,, सुफलमाला जैन ध० प० श्री कैलाशचदजी बजाज मुज०
(१०) श्रीमान् शिखरचद जियालाल जी जैन एडवोकेट कुजगली मुज०
(११) श्रीमान् चिरजीलाल फूलचंद बैजनाथ जी जैन बडजात्या नई मडी, मुजफ्फरनगर

भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्यमदिरके सरक्षक

(१) श्रीमती राजो देवी जैन ध० प० स्व० श्री जुगमदरदासजी जैन आडती, सरधना
(२) ,, सरला देवी जैन ध० प० श्री ओमप्रकाशजी दिनेश वस्त्र फैक्टरी, सरधना

卐 आत्मभक्ति 卐

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे ।
तेरी भक्तीमें क्षण जांय सारे ।। टेक ।।

ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका इकदम विलय हो ।
भ्रांतिका नाश हो, शांतिका वास हो, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ।।१।।

सर्व गतियोमे रह गतिसे न्यारे, सर्व भावोमे रह उनसे न्यारे ।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाही विरत, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ।।२।।

सद्धि जिनने भि अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमे सहाई ।
मेरे सङ्कटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ।।३।।

देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्ययके भेदोंसे पारे ।
नित्य अतः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ।।४।।

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयोमे नित श्रेय तू है ।
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ।।५।।

आत्म-कीर्तन

हू स्वतंत्र निश्चल निष्काम।
ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।। टेक ।।

मैं वह हू जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान ।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।
सुख-दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान।
निजको निज परको पर जान फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचू निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।
होता स्वय जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, "सहजानन्द" रहू अभिराम ।।

•••○O○•••

* मंगल-तन्त्र *

मैं ज्ञानमात्र हू, मेरे स्वरूपमे अन्यका प्रवेश नहीं अत· निर्भार हू।
मैं ज्ञानघन हू, मेरे स्वरूपमे अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हू।
मैं सहज आनदमय हू, मेरे स्वरूपमे कष्ट नही, अत· स्वय तृप्त हू।
ॐ नम· शुद्धाय, ॐ शुद्ध चिदस्मि।

•••○O○•••

❀ दर्शनपाहुड प्रवचन ❀

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दसणमग्ग वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥ १ ॥

(१) जिनवाणीके मूल प्रणेता आप्तदेवको नमस्कार— जिनवरवृषभ वर्द्धमानको नमस्कार करके संक्षेपसे यथाक्रम दर्शन-मार्गको कहूगा । यहाँ नमस्कार जिन्हें किया है उनके विषयमे दो पद दिये हैं । जिनवरवृषभ और वर्द्धमान । इन दोनोको विशेष्य भी मानकर अर्थ किया जा सकता और विशेषण विशेष्य मानकर भी अर्थ किया जा सकता । जहाँ विशेषण विशेष्य मानकर अर्थ करें वहाँ अर्थ होगा, अपने ज्ञानादिक गुणोंमे बढ़ते हुए जिनवर वृषभको नमस्कार हो । इस अर्थमे जिनवर वृषभके तीन शब्दोके तीन अर्थ हैं । जिनवर वृषभ । जो जिन हैं उनमे जो वर हैं, उनमे भी जो वृषभ हैं, श्रेष्ठ हैं उनको नमस्कार हो । इस अर्थमे जिनका अर्थ होगा, जो मोहको जीत लेता है, सम्यग्दृष्टि है और उसमे भी जो यथायोग्य सयम

धारण करता है ऐसा ज्ञानी जीव जिन कहलाता है याने श्रावक और मुनि, उनमे वर मायने श्रेष्ठ गणधर आदिक उनमे भी वृषभ श्रेष्ठ तीर्थंकर, आप्त सर्वज्ञदेव, उनको यहाँ नमस्कार किया गया है, जो कि वर्द्धमान हैं, पूरे पहुचे हुए हैं। आप्त किसे कहते हैं? आप्त तो सर्वज्ञदेवको कहते याने जो जिन-वाणी है यह जिसके मूलसे उद्गत हुई है वह आप्त कहलाता, पर आप्तका शब्दार्थ क्या है? पहुचे हुए। जैसे किसी पुरुषके बारेमे प्रशसा करके कहते हैं कि यह तो बहुत पहुचे हुए पुरुष हैं, कहाँ पहुचे हुए हैं? ज्ञानमे, आचरणमे, तपश्चरणमे। तो ऐसे ही आप्तदेवको कहा कि यह तो पहुचे हुए हैं, कहाँ पहुचे हुए हैं? ज्ञानकी उत्कृष्टतामे, आनन्दकी उत्कृष्टतामे ये पहुचे हुए हैं।

(२) **निर्दोष वाणीसे आप्तके आप्तत्वकी सिद्धि**—जिसके सत्य पूर्ण ज्ञान प्रकट है और सत्य पूर्ण आनद प्रकट है उसकी वाणी ही निर्दोष होगी। जिसके ज्ञान कम है और वह ज्ञानी पुरुष भी है, पर अल्पज्ञता है तो खोटे अभिप्रायसे भले ही सदोष वचन न निकलें, पर ज्ञानकी कमीसे सम्भव है सदोष वचन हो सकें। तो जिसके ज्ञानके परिपूर्णता है और इस ही कारण आनन्दकी परिपूर्णता है ऐसा ज्ञानानन्द निधान आप्त सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिमे जो बात निकली है वह निर्दोष है। सर्वज्ञ सिद्धिमे सयुक्तिक साधन निर्दोष वाणी है, जिसके मूलसे

ये ग्रन्थ निकले, वह सही है, सर्वज्ञ है, इसको सही जाननेका और क्या उपाय है ? सिर्फ यह ही उपाय है कि युक्ति अनुमान आदिक साधन प्रमाणसे यह निर्णय करें कि ये वचन निर्दोष हैं। निर्दोष वचनसे ही सर्वज्ञताकी सिद्धि बनती है, आप्तकी। आप्त और सर्वज्ञ इन दोनोका भले ही स्थूल रूपमे एक अर्थ है, पर सूक्ष्म रूपमे आप्तकी प्रसिद्धि है, दिव्यध्वनिसे उपदेश जिसका चलता है ऐसे सर्वज्ञमें। सर्वज्ञ तो सभी सर्वज्ञ हैं और इस दृष्टिसे सभी सर्वज्ञोको आप्त नही कहते, किन्तु जिस सर्वज्ञ से वाणी खिरी है उन्हे आप्त कहते हैं, ऐसा एक सूक्ष्म मनन मे अर्थ आता है। कभी आगमका जहाँ लक्षण किया है, न्याय-शास्त्रमे तो बताया है 'आप्तवचनादि निबंधनम्' याने आप्तके वचन आदिकके कारणसे जो अर्थ परम्परा आयी है उसे आगम कहते हैं।

(३) तीर्थंकरोंके स्मरणका मुख्य कारण—जिनवरवृषभ मायने तीर्थंकर देव। सभी तीर्थंकरोके दिव्यध्वनि खिरती है, उनके ऐसा ही तीर्थंकरप्रकृतिका योग है। सभी सर्वज्ञोके दिव्य-ध्वनि नही खिरती। अनेक केवली होते हैं, कितने ही तो उपसर्गसिद्ध केवली होते हैं, दिव्यध्वनिका अवसर ही क्या ? कितने ही मूक केवली होते हैं, उनके दिव्यध्वनि नही खिरती। तो जिनवर वृषभ तीर्थंकर केवलीसे दिव्यध्वनि खिरी ही है

और उससे यह वाणी परम्परा चली है। किसी भी ग्रन्थको पढनेसे पूर्व जिसके प्रति ग्रथकार कृतज्ञ हैं उसका स्मरण किया करते है, जिनसे उपकार पा चुके हैं उनका स्मरण किया करते हैं। तो यहाँ जिनवरवृषभको नमस्कार किया। वे हैं वर्द्धमान, ज्ञानादिक गुणोमे पूर्ण बढे हुए हैं। यह तो है विशेषण विशेष्य भावका अर्थ। जहाँ दोनो ही विशेष्य लिये जावें वहाँ अर्थ होगा—जिनवरवृषभ मायने आदिनाथ भगवान और वर्द्धमान मायने महावीर भगवान, इन दो तीर्थंकरोको नमस्कार हुआ। दो के करनेसे बीचके तीर्थंकरोका निमित्त अपने आपमे अन्तर मे सिद्ध होता है। ऐसे वर्द्धमान जिनवर वृषभको नमस्कार करके अब यहाँ दर्शनमार्गको कहेगे, सम्यग्दर्शनका मार्ग, सम्यग्दर्शनके लाभका उपाय, सम्यग्दर्शनका स्वरूप।

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेंहि सिस्साण।
त सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२॥

(४) धर्म और धर्मकी दर्शनमूलकता—धर्म दर्शनमूलक है, ऐसा जिनवरने शिष्योको उपदेश किया है। सम्यग्दर्शन जिसकी जड है वह धर्म है। धर्म तो चारित्रका नाम है और उस धर्मका मूल है सम्यग्दर्शन। धर्मका लक्षण समतभद्राचार्य ने किया कि जो ससारके दुखोसे छुटाकर उत्तम सुखमे धारण करे सो धर्म। अब कौन धारण करता, कौन सा भाव ऐसा है जो ससारके दु.खोसे छुटा दे और उत्तम सुखमे पहुचा दे? जरा

एक लौकिक हिसावमे थोडा यह ध्यान दें कि किसी मनुष्यको जब व्यग्रता होती है इष्टवियोग होनेसे या किसी कारणसे तो उस व्यग्रताके नष्ट होनेका उसका क्या उपाय बनता ? जैसे मानो किसीके इष्टका वियोग हो गया पुत्रका, पिताका, दादा का, स्त्रीका, मांका, जिसे भी बहुत इष्ट समझता हो, वियोग होनेपर वह बडा दु खी होता है। तो लोग समझाने वाले आते हैं, अनेक प्रकार समझाते हैं, उनका समझाना मोहवर्द्धक होता है प्राय. करके। उसकी याद दिलाते हैं— वह वडा अच्छा था, होनहार था, सबकी खबर लिया करता था, उसके गुण गायेंगे, उसे सुखकारी वतायेंगे, ऐसी कुछ बातें कहेगे, तो यह कोई समझानेका ढग नही है, यह तो दु ख बढानेका ढग है, और होता भी यह ही है कि ज्यो ज्यो लोग समझाते हैं त्यो त्यो उसका दुःख बढ़ता जाता है, पर कोई विवेकी पुरुष समझाये या स्वय उसकी समझमे आ जाय कि वह तो विल्कुल भिन्न जीव है, मैं उससे बिल्कुल अलग हू, मेरा साथी कोई दूसरा ससारमे हो ही नही सकता। सब अपने अपने किएका फल पाते है। कोई किसी दूसरेका मददगार नही, ऐसी बात जब समझमे आती है और अपने आपमे अकेलेपनका अनुभव होता है तब उसका वह दुःख मिटता है। जब लोकपद्धतिमे यह बात पायी जा रही है कि जब अपना एकाकीपन समझमे आये तो उसका दु.ख मिटे, ऐसे ही यहां समझिये कि जब अपना एकत्व

समझमे आये जो संसारके सकट मिटें और उत्तम सुखमे पहुंचे। क्या ? वह अपना एकत्व, विशुद्ध एकत्व, यह जीव अकेला ही मरता है, अकेला ही पैदा होता है, यह एकत्वका स्थूल रूप है। जैसा कि लोगोंने समझ रखा है कि यह जीव आया, यह मनुष्य आया, यह पशु मरा। जो एकत्व है वह न जन्मता है न मरता है, जो आत्माका स्वरूप है सहज ज्ञानमात्र ज्ञान-ज्योति, चित्‌चमत्कार मात्र वस्तु है वह मिटती नही कभी। ऐसा यह आत्मवस्तु सहज स्वरूप है।

(५) धर्मका आश्रय लेनेका कर्तव्य—परके सम्बंध बिना अपने आपमे ही अपने ही सत्त्वके कारण जो मेरा सहज स्वरूप है उस रूप अपनेको माने, मैं यह हू, उसकी सारी समस्यायें सुलझ जाती हैं और उसको फिर सकट नही रहते। करनेका यह काम है। अन्तः घुसे घुसे गुप्त गुप्त इस गुप्त तत्त्वको पा लें। ससारमे जितने समागम मिले हैं इनमे किसी भी प्रकार का जो लगाव है वह अपनी विडम्बना है। उसमे हित नही है। हित है तो अपने इस एकत्व विभक्त अतस्तत्त्वरूप अपने आपकी श्रद्धा करके अधिकाधिक प्रयास इस ही स्वमे मग्न होने मे है। दूसरा कोई कार्य इस जीवके लिये हितकारी नही है। बाकी तो सब अच्छे कार्य यो करने पडते, करना चाहिए कि जब यहाँ मग्न न सके तो उनमे ही भेद तो करें कि यह अशुभ है यह शुभ है, अशुभसे हटो, शुभमे आवो। इसमे एक पात्रता

रहती है कि मैं अपने उस विशुद्ध एकत्वको जब कभी भी निरख लूगा। यदि यह अशुभमे ही बह गया तो यह ऐसा पात्र फिर नही रहता । तो जिसके यह निर्णय है कि करने योग्य काम तो आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपका भान करके उस रूप ही अपनेको ऐसा मान लेना कि फिर कोई कितना ही बहकाये पर अन्य बुद्धि न बने, यह है । जैसे कि लोग अपने अपने नाममे ऐसा दृढ निर्णय बनाये हैं कि मैं अमुक चद हू, अमुक लाल हू, अमुक प्रसाद हू आदि, और कोई उस नामके बजाय दूसरा नाम ले ले तो उसमे बहकते नही, ऐसे ही अपने इस सहजस्वरूपके बारे मे ऐसा दृढ निर्णय करके रहे कि कोई इस आत्मतत्त्वका अन्यथा स्वरूप बताकर बहकाये तो बहकें नही । चार्वाकोने बहकाया कि चार महाभूत मिल गए, चैतन्य हो गया, सो यह बात सुनने, समझने और माननेमे बडी सस्ती और अच्छी लग रही 'ऋण कृत्वा घृत पीवेत्' ऋण करके भी घी पियो । खूब मौजसे रहो,'' 'अच्छा भी लगता है ऐसा सुननेमे, मगर ऐसे शब्द इस एकत्वके अनुभवीको विचलित नही कर सकते । अनुभव पाया, परिणमन आया, समझमे ध्रुवतत्त्व आया, समझमे सारी समस्यावोका यहां हल हो गया ।

(६) **धर्मका अभिन्न मूल सम्यग्दर्शन**—एकत्वका सहारा ले, आश्रय ले उस ही मे बल लगाये, अपने अन्तः ही प्रतिष्ठित बने, यह है धर्म जो संसारके सकटोसे छुटाकर उत्तम सुखमे

पहुचा देता है, ऐसा यह धर्मसम्यग्दर्शन मूलक है। जैसे कहते हैं ना—वृक्षकी जड़, तो इसमे दो बातें आयी—वृक्ष और जड। तो दो बातें होकर भी एक ही बात है। क्या जड़ वृक्ष से भिन्न अग है ? नही, ऐसे ही चारित्र और दर्शन, चारित्र तो है वृक्ष और सम्यग्दर्शन है जड। इस निगाहमे दो बातें समझमे आयी। चारित्र वृक्ष है, सम्यग्दर्शन उसकी जड है, पर जैसे वृक्षसे जड कोई अलग चीज हो और वहां जुड गई हो, ऐसा तो नही है, ऐसे ही वह एक धर्म है और उसकी यह जड वह भाव है कि जो आधार बन गया कि जिसके बिना वह वृक्ष चारित्र हो ही नही सकता। तो ऐसा सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है।

(७) सम्यक्त्वकी उपपत्तिका संक्षिप्त निर्देशन—कैसे सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, उसका क्या उपाय है, क्या कारण है, इस विषयमे बहुत वक्तव्य है, फिर भी सक्षेपमे इतना समझ लें कि समवशरण जिनबिम्ब दर्शन और और भी धार्मिक कार्य, तत्त्व ज्ञानाभ्यास ये उपाय तो बनते हैं मिथ्यात्वप्रकृति के उपशमके कारणभूत। मिथ्यात्वका उपशम होना यह भी तो आवश्यक कार्य है वहां ? उसके साधन हैं वे सब बातें और मिथ्यात्वका उपशम आदिक कारण हैं सम्यग्दर्शनके व्यक्त होनेका। वह अबुद्धिपूर्वक है और मिथ्यात्वके उपशम करनेका कारण वे सब बुद्धिपूर्वक हैं। इस कारण परम्परया इसे कारण

कह देते हैं। वस्तुतः तो सम्यग्दर्शन जब उत्पन्न होता है तो वहाँ कोई आश्रयभूत नही होता सिवाय एक स्वतत्त्वके, पर उसकी निष्पत्तिकी विधि क्या है, इस विषयमे बुद्धिपूर्वक उपायो का आगे वर्णन किया जायगा। जो भी बुद्धिपूर्वक उपाय हैं ज्ञान, अध्ययन, पूजा, गुरुसेवा, तत्त्वचर्चा आदि वे सब साक्षात् तो सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोको होन करनेमे कारण है, फिर सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोका उपशमादि सम्यक्त्वनिष्पत्तिका निमित्त है।

(८) **सम्यग्दर्शनकी वार्ता**—अष्टपाहुडमें यह दर्शनपाहुड नामका अधिकार है। यहाँ कह रहे हैं कि जिनेन्द्रदेवने शिष्यो को उपदेश किया है कि धर्म दर्शनमूलक है अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक यह जीव आगे बढता है और अपने अन्तस्तत्त्वकी स्थिरतामे सफलता पाता है। आत्मस्थिरता है धर्म और उसका मूल है सम्यग्दर्शन, जिसे कहो सूझ, जैसे तीन बातोसे काम चलता है—सूझ, बूझ, रीझ। किसी भी कामको करेंगे तो उसकी सूझ होनी चाहिए, और उस सम्बधमे बूझ याने ज्ञान और उसपर रीझ, तो वह कार्य बनता है। तो सूझ है सम्यग्दर्शन, मार्ग देखा, स्वभाव देखा, स्वभावकी झलक हुई। अब उसमे स्थिरता करे वह है चारित्र। तो मूल तो सम्यग्दर्शन है। वह सम्यक्त्व क्या है ? वह अनिर्वचनीय परिणाम है। किसीने उसका विपरीत अभिप्रायरहित स्वच्छता नाम दिया

है, उस सम्यग्दर्शनकी बात लोग सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षकी समझसे जल्दी समझ पाते है मायने सम्यक्त्वका प्रतिपक्ष है मिथ्यात्व, उसे तो समझ लेंगे कि विपरीत अभिप्राय है, बस यही न रहे, लो यह ही सम्यग्दर्शन है और अपनी ज्ञानमुखेन समझ है, सो सहज ज्ञानस्वभावकी अनुभूति होना सो सम्यग्दर्शन है। सहज स्वभाव क्या ? जबसे आत्मा है तब ही से जो है—सहजायते इति सहजं, जो उसकी सत्ताके साथ ही है उसे कहते हैं सहज, सहजका अर्थ लोग सुगम करते हैं, सरल करते है, अनेक प्रयोगोमे आता है, पर शब्दार्थकी दृष्टिसे सहज का भाव है, जो आत्मसत्त्वके साथ हो उसे कहते हैं सहज याने स्वरूप।

(६) सहज स्वरूपकी आलम्ब्यता—स्वरूप साथ रहता है अनादिसे। ऐसा तो और लोग भी मानते हैं, पर उसे भेदरूप मानते है। दो पदार्थ जुदे-जुदे मान लेते हैं, ज्ञान, चेतना, बुद्धि, यह आत्मासे अलग पदार्थ है और आत्मा ज्ञानसे अलग पदार्थ है। आत्मा तो द्रव्य नामका पदार्थ है और ज्ञान, बुद्धि गुण नामका पदार्थ है, फिर उनका समवाय मानते, किन्तु तत्त्व ऐसा नही है। गुण वस्तुसे तन्मय है। आत्मा ज्ञानसे तन्मय है अनादिसे। और वही इस जीवका शाश्वत शरण है और वही तरण तारण है। जो अभी भजनमे सुना था, ब्रह्मप्यारे, यह मेरा आत्मस्वभाव यह ही मेरेको शरण है और

वह शाश्वत है, उसे जो न पहिचाने सो भटके और जो पहिचाने उसका उद्धार हो। बस सर्व उपदेशोका सार निचोड निष्कर्ष इतना ही है कि जिसे यहाँ तक कहा कि जिसने इस स्वभावको जाना उसने सब जैनशासनको जाना, क्योकि जैनशासनकी बडी बड़ी न्याय छटावोसे जानकारी करनेका प्रयोजन क्या है ? वाद-विवाद करना प्रयोजन है क्या, या दुनिया में अपना पाडित्य जाहिर करना है क्या ? क्या प्रयोजन है आगमके अभ्यासका ? बडी-बड़ी पडिताई पा लेनेका प्रयोजन है क्या ? बस इस सहज शुद्ध, सहज सिद्ध स्वभावका परिचय पाना और फिर उसकी ही धुन बन जाना, तो ऐसे इस सहज स्वभावका परिचय मिले, अनुभूति मिले वहाँ है यह सम्यग्ज्ञान। जो सम्यक् है, निरपेक्ष है, सहज है, मात्र सत्त्वके कारण है ऐसे सम्यक्तत्त्वका दर्शन होना सम्यग्दर्शन है। सम्यक्का सम्यक्मे सम्यक् प्रणालीसे दर्शन होना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन अनुभूतिपूर्वक ही होता है, उसके बाद अनुभूति चले, किसी बाह्यपदार्थमे भी ध्यान दे, और और प्रवृत्ति कामकाज करे यह तो सम्भव है सम्यग्दर्शनके होते हुए भी, लेकिन सम्यग्दर्शनकी जो निष्पत्ति है वह ज्ञानानुभूतिपूर्वक ही है और इसी कारण ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। वही ज्ञान जो पहले था सम्यग्दर्शन नामको नही पा रहा था, सम्यग्दर्शन होते ही सम्यग्ज्ञान नाम पा गया।

(१०) **सम्यक्त्वसे पूर्व हुए ज्ञानकी और सम्यक्त्वके होने पर हुए ज्ञानकी मीमासा**—जैसे आपने मानो अब तक श्रवण-वेलगोलकी वाहुवलिकी मूर्ति नही देखी, मगर उसकी फोटो तो देखी, चर्चा तो सुनी, पुस्तक भी तो बाँची और वहुत बड़ा ज्ञान भी कर लिया, इतना मोटा अंगूठा है, इतना लम्बा पैर है, घुटने तक इतनी लम्वी है, पूरी मूर्ति इतनी ऊँची है, यो सही-सही सब जानकारी कर लिया। कुछ जानकारोमे फर्क रहा क्या ? पुस्तकसे पढकर या फोटो देखकर सब तरह का ज्ञान कर लिया एक तो यह ज्ञान और फिर आप श्रवण-बेलगोल जाये, पहाडपर चढकर उस मूर्तिके पूरे दर्शन करें, उस दर्शनके समयमे मूर्तिका जो ज्ञान हुआ, इन दोनो प्रकार के ज्ञानोमे आप तुलना करें तो कुछ अन्तर आया कि नही ? दर्शन करनेसे पहले जो ज्ञान था मूर्तिका वह किस प्रकार था, दर्शनके साथ ही वही ज्ञान अब कैसी दृढता, स्पष्टता, प्रत्यक्षता को लिए हुए है। जैसे वहाँ ज्ञानमे अन्तर आया, मूर्ति दर्शनसे पहले मूर्तिका ज्ञान और मूर्तिदर्शनके बाद मूर्तिका ज्ञान, जैसे इन ज्ञानोमे अन्तर है ऐसे ही आत्मविषयक ज्ञानकी भी बात समझो। ज्ञानानुभूतिसे पहले स्वानुभवसे पहले आत्माके सबध मे होने वाला ज्ञान और आत्मानुभूतिके साथ और उसके बाद रहने वाला ज्ञान इन दोनो ज्ञानोमे अतर क्या है ? जानकारी वही चल रही है, मगर वहाँ सम्यक् व्यपदेश न था, उसको

स्पष्टता, प्रत्यक्षता, दृढता न होनेके कारण। और, अब यहाँ स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष हुआ, सहज आनन्दका अनुभव हुआ, अलौकिक स्थितिका परिचय हुआ। अब यह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

(११) **सम्यक्त्व होनेकी विधि**—सम्यक्त्व हुआ कैसे? तो देखिये—उपाय तो यह ही है कि जानकारी करें और सहज स्वभावका परिचय करें और उस ही का अभ्यास करें, ध्यान मे किसी समयमे सहजस्वभावका अभ्यास बनायें, उसकी चर्चा हो, सो पौरुष करनेका तो यह ही है। ऐसे पौरुषका फल यह होगा कि जो सम्यक्त्वघातक प्रकृतियाँ है अनन्तानुबधी चार, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति ये तीन यो सात, इनमे जो प्रबल प्रकृतियाँ हैं उनका उपशम होने लगेगा। जैसे गाया करते हैं ना कि क्रोध प्रकृतिके उदयके सन्निधानमे जीवमे क्रोध विकार होता है, ऐसे ही गाइये कि आत्माके इन विशुद्ध परिणामोके सान्निध्यमे मिथ्यात्व जैसे कर्मोमे उपशम होने लगता है, देखिये सारी स्थितियाँ घटनायें सब निमित्त नैमित्तिक योग वाली हैं, मगर प्रत्येक द्रव्य अपने आपमे स्वतन्त्र है। एकके परिणमनको दूसरा नही करता। कोई भी पदार्थ अपने प्रदेशसे बाहर अपनी परिणति, अपनी क्रिया नही कर पाता। स्वरूप ही नही ऐसा, मगर उपादानमे ऐसी कला है, उपादानमे ऐसी योग्यता है कि वह अनुकूल निमित्त सन्निधानमे अपनी विकृति कर लेता है। तो यहाँ भी देखिये—अनुकूल विशुद्ध परिणाम

सान्निध्यमे मिथ्यात्व कर्ममे उपशमन होता, अन्तः करण होता,

(१२) सम्यक्त्वोद्यमी मिथ्यादृष्टिका प्रायोग्यलब्धिमे हुए पौरुषका दिग्दर्शन—एक मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके प्रसगमे कितना बडा पौरुष करता है जिस पौरुषको ध्यानमे लें तो यह जचेगा कि उसने ९९ प्रतिशत मोक्षका काम बनाया अब एक प्रतिशत काम शेष रहा। पर करणानुयोगसे उसका मिलान करें तो यह ज्ञात होगा कि जिस समय यह मिथ्यादृष्टि जीव प्रायोग्यलब्धिमे आता है, यहाँ तक अभव्य भी आ जाता है, अन्य भव्य भी आ जाते, जिन्हे सम्यक्त्व नही भी होगा वे और जिन्हे सम्यक्त्व होगा वे भी हैं, यहाँ एक जनरल काम है, मगर प्रायोग्यलब्धिके परिणामकी विशुद्धता देखिये कि उस समय ऐसी प्रकृतियोका बधावसरण होता, बध रुक जाता कि जिन प्रकृतियोका बध छठे गुणस्थानमे होता है उनका बध रुक जाता है मिथ्यात्वमे, कब ? जब यह प्रायोग्यलब्धिमे आता है, उसे बधविच्छेद न कहकर बधावसरण कहा है, क्योकि आगे बध होने लगता है। सम्यग्दृष्टि, जिनका बन्ध कर ले उनका बध मिथ्यादृष्टिने प्रायोग्यलब्धिमे रोक दिया। इसमे पौरुष बता रहे कि कितना उसके अन्त. विशुद्ध परिणाम चल रहे।

(१३) सम्यक्त्वोद्यमी सातिशयमिथ्यादृष्टिका करणलब्धिमे होने वाले अन्तः-करणके महापौरुषका निर्देश—भैया,

आत्माको तो तत्त्वज्ञान, स्वरूपमनन, बस यह ही काम पडा है और वहाँ कर्ममे स्वयमेव उनके ही परिणमनसे क्या क्या गतियाँ होती हैं। सम्यक्त्वघातक कर्मके अन्तरकरण होता याने ताज्जुबकी बात कि कोई कर्म मानो हजार वर्ष इस स्थितिका रह रहा है और कहो बीचमे एक दिनकी स्थिति गायब हो जाय, यह कितने आश्चर्यकी बात है। यह दशा उपशममे होती है, स्थिति सभी कर्मोंकी जिसकी जितनी है, लगातार उनके निषेकविभागोसे निरन्तर चल रही है, उसमें बीचमे नाला नही खुदा है कि यहाँ गैल कट गई। जिस कर्म की स्थिति मानो हजार वर्षकी है तो अब वह अबसे लेकर हजार वर्ष तक प्रतिसमय निषेकोकी सत्त्वमे स्थितिमे पडा है। लेकिन उस सातिशय मिथ्यादृष्टिके उन करण परिणामों की इतनी विशुद्धता है कि बीचमे नाला खुद गया, गैल रुक गई। फिर आगे गैल, उतने समयको स्थिति नही रहती, किस तरह कि जैसे कोई वकील है और उसको जेठ आसाढके महीने मे ऐसी इच्छा हो गई कि दसलक्षणके दिनोमे हम कोर्ट न जायेंगे, तो वह ऐसी कोशिश करता है कि जिसकी तारीख दसलक्षणमे पडी है उन तारीखोको कुछको तो सावनके महीने मे करा लेता है, कुछको भाद्र कृष्णपक्षमे करा लेता है और कुछ तारीखोको असौज वगैरहमे करा लेता है। मतलब, दस-लक्षणके दिनोमे अब उसकी कोई तारीख नही, वह निश्चिन्त

होकर दसलक्षण पर्व मनाता है, ध्यान करता है। ऐसे ही जिसको मानो अब तीन मिनट बाद उपशम सम्यक्त्व होगा एक मिनटके लिए, तो उस चौथे मिनटकी स्थितिका समस्त द्रव्य कुछ तो दो तीन मिनटकी स्थितिमे आ जायेंगे, कुछ ५वें, छठेकी स्थितिमे पहुंच जायेंगे, बीचमें यह स्थिति साफ है। ऐसी टूटन कभी भी किसी सत्वमे नही हुआ करती, मगर अंतः करण परिणामके बलसे स्थितिमे यह टूटन आ गई है। इसकी विधिको कहते हैं आगाल और प्रत्यागाल। इनको यह जीव नही कर रहा। उस जीव बेचारेको पता ही नही, वह तो अपने स्वरूपमननमे है, जीव उपयोगका ही काम कर सकता है, वही कर रहा है मगर निमित्तनैमित्तिक योगसे कर्म ऐसी दुर्दशामे पहुच रहे।

(१४) **सातिशय मिथ्यादृष्टिका सम्यक्त्वघातक प्रकृतियों के उपशमनका महापौरुष**—अन्तरकरण हुए बाद अन्तर्मुहूर्त को विश्राम होता है फिर और करणलब्धि होती है इसके प्रसाद से अथवा इन विशुद्ध भावोके सान्निध्यमे अब सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोका उपशम होने लगता है। अब तीसरा मिनट खतम होनेको आया, और मिथ्यात्वका अन्तिम समय है। उपशम सम्यक्त्व होता है तो अनादि मिथ्यादृष्टि पाने जिसके पहली ही बार उपशम सम्यक्त्व हो रहा है तो उसके पास चूंकि सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक् प्रकृतिकी सत्ता न थी, ये दो प्रकृतियां बच

योग्य नही हैं तो उस समय दबे दबायेमें मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन टुकडे हो जाते हैं, कुछ साबित रह गया वह मिथ्यात्व, कुछ दल गया वह सम्यग्मिथ्यात्व और कुछ चूरा हो गया वह सम्यक्प्रकृति। इस जीवको सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्वका लाभ होता है निमित्त नैमित्तिक योगकी कथा सुनकर यह दृष्टि जरा भी न लेना कि इस निमित्तभूत पदार्थने कोई अपनी परिणति उपादानमें डाल दी। भाव प्रभाव असर कुछ भी कहो उसका नाम है उपादेय याने उपादानमे होने वाला कार्य।

(१५) **दुर्लभ सत्समागम पाकर आत्महितका पौरुष करने का कर्तव्य**—इस जीवने अब तक सारे विकल्प कर डाले मगर इस सहज शुद्ध स्वरूपपर उपयोग नही दिया। जैसे कोई बावला सब घरोमे जाता फिरे मगर उसको अपने घरका पता नही तो वह जिस घर जाता उसी घर उसे ठोकरें लगती। इस जीवने जिसको शरण माना वहीसे लात लगी। फुटबाल जिस लडके के पास गया उसने फुटबालको उठाकर हृदयसे नही लगाया, मुखसे नही चूमा, किन्तु उसकी लात ही लगी ऐसे ही यह जीव बाहरमे जिन बातोको शरण मानकर चला वहांसे ही इसको कष्ट हुआ, इसने अपने स्वभावका परिचय नही पाया। यह बडे सौभाग्यकी बात है जो आज उत्तम भव मिला, उत्तम कुल मिला और जैन शासनका संग मिला, इसे पाकर भी हम विषय कषायोका परित्याग न करें, अपने आत्मवैभवको न देखें और

बाहरी पदार्थोंमे ललचाते रहे, बाहरी मायावी लोगोमे यह मैं हू, इस मैं मैं का स्थापन करते रहें तो फिर मनुष्य क्यो हुए ? विषयसुख तो पशु होकर भी भोगा जा सकता था, बल्कि मनुष्योको कम सुख है, पशुओको ज्यादह, यह धर्महीन मनुष्यकी बात कह रहे, पशुओको डर (भय) नही रहता कोई लाठी लेकर सामने आये तभी पशु डरते मगर ये मनुष्य तो बडे बडे डनलपके गद्दा तक्कोमे पडा हुआ भी भय किया करता, डरा करता, चिन्ता करता कि पता नही क्या कानून बन जाय, कब यह सब कुछ छिन जाय, पता नही कब क्या स्थिति बने' ये सब बातें सोच सोच कर मनुष्य लोग रात दिन भय किया करते, पर ये कोई भय उन पशुओको नही होते। ये सब बातें लौकिक पुरुषोके हिसाबसे कही जा रही। मनुष्य आहार करता, पेट भरा है फिर भी कोई चाट पकौडी वाला आ जाय तो इस लेटर बाक्समे (पेटमे) कुछ न कुछ जगह निकल ही आती है (हँसी)। पर पशु तो भरपेट आहार करके तृप्त हो जाते एक बार पेट भर जानेपर फिर चाहे आप कैसी ही हरी घास डालें, दाना डालें, पर उसकी ओर देखते भी नही। वे सन्तुष्ट हटकर खडे रहते, उन्हें कुछ फिकर नही रहती। और वहाँ इन सुखो के मामलेमे मानो मनुष्य लोग अपनी सतानसे सुख समझते हैं तो क्या पशु अपने बच्चोसे सुख नही मानते ? अरे उन्हें भी अपने बच्चे प्रिय होते, उनको देखकर वे हर्ष मानते। यही

बात निद्रा और मैथुन संज्ञावोंके सम्बंधमें समझें। यों आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन चारो प्रकारकी संज्ञाओमें मनुष्योंकी अपेक्षा पशु श्रेष्ठ है। मनुष्य भवकी श्रेष्ठता तो उसके धर्मपालन से है। इस मनुष्य जीवनको पाकर अपना विवेक सही बनायें, अपना लक्ष्य सही रखें, संयमका जीवन रहे।

(१६) **सहज स्वभावकी दृष्टिके प्रयोग बलसे परभावोंकी निवृत्ति पूर्वक परमात्मत्वका विकास**—इस समस्त पदार्थ समूह मे मेरे लिए एक यह समयसार ही सार है। यह निरपेक्ष सहजस्वरूप मेरा जो अपने आप मेरेमें शाश्वत अंतः प्रकाशमान है उसका मिलाप, उसकी उपासना, उसकी भक्ति, उसकी ओर अभिमुखता, उसपर ही मेरी ज्ञान किरणोका निशाना रहना, बस यह ही एक सारभूत चीज है जो धर्मका मूल है। साक्षात् धर्म कौन ? आतमस्वभावके अनुरूप स्थिति बन जाना। जैसा अन्दर वैसा बाहर। यह है साक्षात् धर्म, प्रकट धर्म। उस प्रकट धर्मका कारण है यह अन्तः लगाव, अन्तरात्मापन। यह विकास कुछ जोडनेसे नही होता किन्तु त्यागनेसे होता है। इसमे कोई चीज लगाना नही है किन्तु विषय कषाय भाव उपाधि आदिक जो कुछ है वह सब हटनेसे प्रकट होता। जैसे जैनियोंकी मूर्ति प्रकट होती है ऐसे ही यह परमातमापन आत्मासे प्रकट होता है। पाषाणमूर्ति बनती है तो कुछ लगाकर नहीं बनती, किन्तु हटा हटाकर बनती है। मूर्ति बनानेसे पहले कुशल कारीगरको

उस पत्थरकी मूर्तिके ज्ञान द्वारा दर्शन हुए थे तब ही वह ऐसे हाथ चला सका जिससे मूर्ति खण्डित नही हुई, प्रकट हुई। झटपट हाथ क्यो नही चलता ? बीचसे ही टाँकी क्यो नही मारता, उसमे विनय थी, आस्था थी कि यहा मूर्ति है, यह ही तो प्रकट हुई है। उसको उस बडे पत्थरमे मूर्तिके दर्शन हुए थे। उसको ढाकने वाले जो अगल बगलके पत्थर हैं बस उनको उसने हटाना शुरू किया। पहले बडे पत्थर हटे, फिर और छोटे, फिर और छोटे, फिर पाउडर जैसे, इस तरह हटाने हटानेका काम तो किया और मूर्ति प्रकट हो गई, ऐसे ही यहाँ पर भी हमे हटाने हटानेका ही काम करना है। मगर वह हटानेके कामका हथियार क्या है ? छेनी हथौडी क्या है ? वह है स्वभावदृष्टि। उसका ही लक्ष्य, उसकी ही भावना, यह ही हथौडो, यही छेनी, और उसके प्रयोगसे हटता क्या है ? विषय कषाय उपाधि, कुछ इसकी बात, कुछ बाह्य सयोगकी बात। सब स्वय अपने अपने परिणामसे हटते जाते हैं। लगाया क्या इस ज्ञानीने आत्मामे ? लगानेकी जरूरत क्या थी ? वह तो परिपूर्ण है। अधूरी चीज हो तो बाहरसे लानेकी जरूरत होती, परिपूर्ण है, उसपर आवरण है तो आवरण हटाने भरकी जरूरत होती है। यहाँ मूर्तिका आवरण हथौडो छेनीसे हटाया, मगर इस भगवान आत्माका आवरण किसी परद्रव्यके साधन से नही हटता, यह अपने आपके उपयोगसे हटता है।

(१७) **व्यवहारचारित्रकी उपयोगिता व व्यवहारचारित्र में भी वीतरागताके दर्शनकी ज्ञानीकी प्रकृति**—स्वभावाश्रय का प्रयोग जो करते है उनको जो अड़चनें आतीं, असुविधायें आती वह अतराय न आये और सीधे इस आत्मस्थिरताको पाये उसके लिए जो उनकी चर्या बनती है वह चर्या है व्यवहारचारित्र। उनका परिणाम हुआ महाव्रत समिति गुप्ति, उस समिति गुप्तिमे दर्शन करे, किसके ? वीतरागताके। अच्छा, वहाँ रागके दर्शन नही कर सकते क्या ? रागके भी कर सकते। जितनी प्रवृत्ति है उस मुखेन रागके दर्शन होगे और जितनी निवृत्ति है उस मुखेन वीतरागताके दर्शन होगे। अब यह आप की रुचि है, आपको दोष दोप पकडनेकी आदत है तो राग दोष की मुख्यतासे उसको देखिये और अगर आपको वीतरागता देखनेकी रुचि है तो उस ही चीजको वीतरागताकी दृष्टिसे देखिये। ज्ञानीकी आस्था चलती जाती है, लक्ष्य उसका एक स्वभावदर्शन। एक काम करना है और सारे काम हो जाते हैं, जो होना था। बस अपने सहज स्वरूपका परिचय करें, ज्ञान करें और उसको ही धुन बनायें, यह ही एक मनुष्य जीवनमे सारभूत काम काम है।

सम्मत्तविरहियाण सुट्ठुवि उग्गं तवं चरताणं।
ण लहति बोहिलाह अवि वाससहस्सकोडीहि ॥५॥

(१८) **सम्यक्त्वरहितके बोधिलाभका अभाव**—जो जीव

सम्यक्त्वसे रहित है वे बडे घोर तप भी करें तो भी वे बोध का लाभ नही प्राप्त कर सकते हैं। हजारो करोडो वर्ष भी उन के तपश्चरणमे गुजर जायें फिर भी वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नही कर सकते जो सम्यक्त्वरहित हैं वे सम्यक्चारित्र न पाल सकेंगे, क्योकि चारित्र नाम है अपने आत्माके स्वरूपमे उपयोगको मग्न कर देनेका। यह मग्न हो क्यो जाता है ? अगर विषम चीज़ हो तो मग्न नही हो सकता। जो समान हो सो ही मग्न हो सकेगा। तो आत्मस्वरूप है ज्ञानमय और जिसको मग्न होना है वह भी ज्ञानस्वरूप है, याने स्वरूपमे उपयोगको मग्न करना है। यद्यपि स्वरूप और उपयोग कोई भिन्न प्रदेश वाले नही हैं, जुदे-जुदे वस्तु नही हैं लेकिन यह जीव अनादिसे अब तक इस स्वरूपसे जुदा चल रहा है ना ? यद्यपि उपयोग स्वरूपसे अलग नही है, ज्ञानमय है, मगर ज्ञानमयका क्या करें ? जो अपनेको ज्ञानमय न समझता हो। तो जो ज्ञानमय नही समझ पाता उसको ही अज्ञान कहते है चाहे दुनियावी ज्ञान कितना ही बडा कर लें, बडे बडे आविष्कारके ज्ञान करलें, बडी बडी ऊँची कलाओके ज्ञान कर लें, मगर ज्ञान करने वाला यह ज्ञानमय हैं। और यह ज्ञानमय अपने ज्ञानस्वरूपका ही विलास है, यह जब तक ध्यानमे नही है तब तक उपयोग अपने स्वरूपमे मग्न नही हो सकता। यह कला अज्ञानी जनोने नही पायी, इस कारण किसी प्रयोजनसे,

अपनी बुद्धि माफिक चाहे धर्मके प्रयोजनसे हजारों, लाखों, करोडो वर्ष भी भीषण तप करें तो भी वे सम्यक्चारित्रको प्राप्त नही कर सकते। खुदमे खुद समा जाय इसको कहते हैं सम्यक्चारित्र। जिस उपयोगके लक्ष्यमे यह तत्त्व समाया हो कि यह मैं, मेरा स्रोतभूत यह मैं आत्मद्रव्य केवल सहज ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, चैतन्यमात्र हू। स्वयं यह अपने आप विकार करनेमे असमर्थ है, यद्यपि उपाधि और निमित्त के सन्निधानमे परिणमता यह जीव ही अकेला है विकाररूप, कही जीवके विकार रूप जीव और कर्म दोनो मिलकर नही परिणमते, कर्म अपने विकार रूप परिणमता है। परिणमता है यह अकेला ही मगर निमित्त सन्निधान बिना अकेला परि-णाम सके तो कहा जायगा कि यह जीव स्वय ही अकेला परि-णाम रहा है, पर ऐसा नही होता। अगर जीव स्वय उपाधि बिना अकेला ही परिणम जाय तो फिर वह विकार कभी मिट नही सकता। विकार चूंकि नैमित्तिक है इस कारण ये टाले जा सकते है। तो ज्ञानीने यह सब पहिचान लिया है। जितने विकार है वे सब परभाव है, उनमे लगनेका मेरा कोई प्रयो-जन नही।

(१६) अविकार सहज अन्तस्तत्त्वकी अनुभूतिमें परमा-त्मत्वलाभकी दिशा—विकारभावोमे जुडना बस यही अनर्थ है, यही क्लेश है। जिनको सही ज्ञान हो गया कि ये विकार क्या हैं? कर्मविपाककी छाया है, और छाया है प्राणीमे अज्ञान,

उस अज्ञानके कारण उस छायामे आशक्त हो गया। जैसे ही यहाँ ज्ञान प्रकट होता है तो कर्मोंमे छायामे इसको अब रति नही रहती। मैं सहज शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हू, यह उस की प्रतीतिमे है, और जिसके ज्ञानमे अपना सहज स्वरूप बसा है वह सहज ही अपने आपकी ओर ढलेगा और इस ही के अभ्यास होनेके बलसे कभी अपने आपमे सदाके लिए मग्न हो सकेगा। लेकिन जिसने अपने सहज स्वरूपका अनुभव नही किया वह स्वरूपमे मग्न नही हो सकता। अनुभवकी महिमा सबसे ऊँची है। ज्ञान तो लोगोको बहुतसे हो जाते हैं—अमेरिका यहाँ है, हम आप भी बोलते है जिन्होने कभी अमेरिका, देखा ही नही कि कैसा है अमेरिका, वे भी चित्र देखकर अमेरिकाके सम्बधमे बहुत कुछ बातें बताते हैं। और, तो जाने दो, जिन्होंने यही अपने भारत देशमे किसी स्थानको नही देखा उसका भी वे ज्ञान करते है, अगर उस स्थानको वे आँखोसे स्वय देख ले तो वह कहलाता है सानुभव ज्ञान, अनुभवसे उतरा हुआ ज्ञान। उसके पहले था कागजी ज्ञान, तो ऐसे ही जीवके बारेमे कागजी ज्ञान हुए बिना भी काम न चलेगा, क्योकि पहले ज्ञान होना आवश्यक है तब तो श्रद्धान बनेगा। मगर वह ज्ञान सम्यक् तब तक नही कहला पाता जब तक कि उसका अनुभव न बने। तो कोशिश यह होनी चाहिए कि जगतकी सारी बातोको बेकार जानकर, अन-

र्थकारी जानकर उनमे दिलचस्पी न लें, उनमे दिमाग न भट-कायें, उनके जाननहार बने रहनेका प्रयत्न करें। उनमे जैसा जो होना था हुआ, वे पर पदार्थ है, दूसरे जीव है, उनकी जैसी कषाय है, जैसा भाव है वैसा वे परिणमते हैं। तेरा वे कुछ बिगाडते नही है। अचेतन पदार्थ जो है ये है और पडे हैं, यहाँ हैं, निकल जायें, अन्यत्र चले जायें, उनकी सत्ता नही मिटती। उनका स्थान परिवर्तन हुआ है, वे यहाँ रहें तो क्या, अन्यत्र कही चले जायें तो क्या ? उससे मेरा क्या ? उससे मेरा क्या बिगाड ? मैं तो केवल एक अपनी सत्ता मात्र हू, अपने आप की सत्तामे ही मेरा सब कुछ चल रहा। इससे बाहर मेरा कुछ अधिकार नही, कुछ सम्बध नही, कुछ बात ही नही। इस तरह जिसने अपने स्वरूपका अवलोकन किया ऐसा पुरुष अपने स्वरूपमे मग्न हो सकता है, चारित्र पा सकता है।

(२०) सम्यक्त्वरहितदशामें निरवाध आत्मप्रगतिकी अशक्यता—जो सम्यक्त्वसे रहित है वे बहुत उग्र तप भी कर डालें तो भी इस समाधि भावको प्राप्त नही हो सकते। यद्यपि मुनिव्रतमे बहुत बडा माहात्म्य है। अगर वे सही रूपसे द्रव्यतः भी व्रत पालें, समता परिणाम रखें, रागद्वेष न करें, जैसा जो कुछ मुनिव्रतमे बताया है—निर्दोष चर्या करें, अपनेको शान्त परिणाममे रखें तो वे नवग्रैवेयक तक पैदा हो सकते है। और, नवग्रैवयक क्या चीज है ? स्वर्गोंसे ऊपरके विमान हैं, जहाँ

हजारों वर्षोंमे भूख लगती है, कंठसे अमृत झड जाता है, अनेक पक्षोमे श्वास लेना होता है। जैसे–यहां आधा आधा मिनटमे श्वांस लेना होता है वैसे ही वहा कई कई पखवारोमे श्वांस लेना होता है। (सुखकी बात कह रहे है) इसको ही लोग वैकुण्ठ कहा करते है। लोग कहते है कि वैकुण्ठमे जीव चला गया तो वहुत दिन वहां रहेगा, वही उसकी मुक्ति कहलाती है। मगर सदाशिव एक ईश्वर है जो कि सृष्टि करता है, वस उसके मनमे जब आया तव वह वहासे ढकेल देता है। फिर उसे संसारमे रुलना पडता है...., ऐसा अन्य लोग कहा करते है। यही वात वहा वैकुण्ठमे देखनेको मिलती है। अज्ञानी जीव वैकुण्ठसे ऊपर नही जा सकते, ग्रीवा भी नाम कठका है और कठ नाम भी कठका है। ग्रैवेयक कहो चाहे वैकुण्ठ कहो, दोनो का एक ही अर्थ है। तो ये अज्ञानी जोव मुनिव्रत धारण कर

शुक्ललेश्याके बलसे, कुछ शुभोपयोगके बलसे नवग्रैवेयक तक पैदा हो जाते हैं, और जब उनकी आयु समाप्त होती है तो सदामुक्त परमेश्वर अर्थात् यह आत्मस्वरूप याने अपने ही आत्माका बस एक आर्डर हुआ कि वहासे चय करके यहा मनुष्य बनते हैं, फिर जन्ममरण चलता रहता है जन्ममरण तो चल ही रहा है। वह भी जन्म मरण था, उनकी आयु ३०-३१ सागर तककी होती है। एक सागरमे असख्याते वर्ष गुजर जाते हैं। इतने लम्बे काल तक वे वहा रहते है। वहां पर भी

मद कषाय है, शुक्ल लेश्या है। उनमे आपसमे वादविवाद नही होता, परस्परमे कभी झगडा नही होता, उनको कभी ताव नहीं आता, वे बडे अच्छे ढगसे शान्तिपूर्वक रहते हैं। ये सब बातें वहा चलती है मगर एक अपने स्वभावकी सुलझ न होनेसे इतने ऊँचे चढकर भी आखिर वे नीचे आते है। तो अब आप जानें कि सम्यक्त्वकी और आत्मज्ञानकी कितनी महिमा है, कितनी लागत है। तीनो लोकका वैभव भी मिले और एक सम्यग्दर्शन न हुआ तो वह वैभव भी तुच्छ तृणवत् है। उससे इस आत्माको क्या मिलना जुलना ? आत्मा तो स्वयं अपने आप आनन्दमग्न है, उसका इन बाह्य पदार्थोंसे कोई सम्बंध नही है। तो ऐसे सर्व बाह्य पदार्थोंसे पृथक्, विकारभावोसे पृथक् अपने आपका जो सहज चैतन्यमात्र स्वरूप है उस स्वरूप मे मग्नता सम्यग्दृष्टि ही कर सकेगा, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि उस स्वरूप मग्नताको नही पा सकते।

(२१) **अज्ञानमे आत्मसिद्धिकी असभवता**—कहते है कि अज्ञानी पुरुष करोडो वर्षोंमे जितने कर्म काटते हैं उतने कर्मों को ज्ञानी जीव गुप्तिबलसे क्षणमात्रमे काट देते है। यह तो तुलनामे बताया है कि अज्ञानीके करोड़ो वर्षोंमे कटने वाले कर्म और ज्ञानीके क्षणमात्रमे कटने वाले कर्म, उनकी जो एक समानता बतायी है कि उतने कट जाते हैं, वह एक अदाजा देनेके लिए बताया है। अज्ञानियोके तो कर्म कटते ही कहा है ?

मगर कर्म कट रहे हैं और जो नवीन कर्म आ रहे है अज्ञानियो के उनपर ध्यान न दें और जो कर्म दूर हो रहे हैं उपक्रमसे अनुपक्रमसे उनकी सख्या समझ लें, उसके साथ तुलना की है, किन्तु वस्तुत अज्ञानियोके तो सम्वर है ही नही। सम्वरपूर्वक निर्जराका वहा अवकाश ही नही, फिर तुलना कैसे ? पर साधारण जनोको अदाजा करानेके लिए ऐसी कई तुलनायें दी जाती है जैसे एक तुलना यह दी जाती है कि सिद्ध भगवानका या उत्कृष्ट मुनिराजका आनन्द कितना है ऐसा समझनेके लिए तुलनाकी जाती है कि तीनो लोकके जितने जीव हैं और इन्द्रादिक जो वडे-बड़े पुण्यवान जीव हैं उन सब जीवोका सांसारिक सुख मनमे इकट्ठा कर लो और भूतकालमे जितना सुख मिला है सांसारिक और आगे जितना मिलेगा वह सारा सुख इकट्ठा कर लो, उससे भी कई गुना सुख है अरहत भगवानके, सिद्ध भगवानके या एक समाधिस्थ मुनिराजके, वीतराग साधुके। तो क्या परमेष्ठीका सुख लौकिक सुखसे कुछ गुना है ? अरे गुना क्या ? लौकिक सुख तो सुख है ही नही। ससारमे इन्द्र देव, भोगभूमिया, धनी, राजा, सबका सुख मिला लें तो भी उनसे दो का भी गुना नही कर सकते। गुनाके लायक वह चीज ही नही है। जैसे ० (शून्य) मे २ (दो) का गुना करनेसे क्या फायदा ? केवल ० (शुन्य) है। कुछ है ही नही, ऐसे ही सासारिक सुख भोग जुदा चीज है, उससे भगवानके या सम्य-

गृहस्थके आत्मानुभवके आनन्दकी तुलना करना बेकार है। यह तो भिन्न जातिका आनन्द है। तो इसी तरह यहाँ भी एक तुलना रूपमे कह दिया गया है कि करोडो वर्ष भी कोई अज्ञान जीव तपश्चरण करें, उनके जितने कर्म झडेंगे उतने कर्म ज्ञानी के क्षणमात्रमे झड जाते हैं। केवल एक अंदाजा किया गया है। ज्ञानीके सचमुचमे क्षणमात्रमे त्रिगुप्तिके बलसे अनन्त कर्म झड जाते है। तो जो सम्यक्त्वसहित है वे ही अपने स्वरूपको निरखकर मग्न होते हैं।

(२२) **सहज आनन्दका पौरुष करनेका अनुरोध**—अहो, जिन्हे अपने धामका पता ही नही वे अपने धाममे कैसे प्रवेश करेंगे ? जिनको अपने घरका पता नही वे दूसरेके घरमे जहाँ जहाँ भी जायेंगे वहाँ वहासे निकाले ही तो जायेंगे। तो ऐसे अज्ञानी जीव, इनको अपने आनन्द धाम अतस्तत्त्वका पता नही है अतएव जिन-जिन परद्रव्योमे, इनपर घरोमे जाते है, वहाँ टिक नही पाते। उपयोग भी नही टिक पाता मगर मूलमे आदत ऐसी पड़ी है कि यह उपयोगी उन्ही विषय कषायोमे जायगा जिनकी ओरसे इनको धक्का लगता है, चोट पहुचती रहती है, कष्ट होता रहता है, उपयोग वहाँ ही बार बार जाता है, यह सब अज्ञानकी महिमा है। तो सम्यग्दर्शन ही एक ऊँचा वैभव है, इसको रत्न कहते हैं—सम्यक्त्वरत्न। रत्न मायने पत्थर नही। जो जो जिस जातिमे उत्कृष्ट है वह वह उस जातिका

रत्न कहलाता है। रत्नकी परिभाषा यह ही है। तो ससारके अनेक समागम मिला करते है। उन समागमोको महत्त्व मत दो। वैभव जुड रहा, परिग्रह जुड रहा तो उसकी कुछ महिमा मत समझो, वह महिमाके लायक नही है, वे सब बाह्य पदार्थ हैं, उनकी सत्ता उनमे है। वे यहाँ रहे तो क्या, कही रहे तो क्या, उससे इस आत्माका उद्धार नही होता। अपने आत्माका स्वरूप समझे बिना यह जीव चतुर्गतिमे ही भटकता आया है, और जब तक समझ न बनेगी अपने स्वरूपकी तब तक यह जीव भटकता ही चला जायगा। क्या ऐसा ही भटकना पसद है। मरेके बाद फिर आगे दुर्गतियोमे जन्म मरण करते रहना पसद है क्या ? अपने आत्मासे पूछो। अपने लिये अपना आत्मा ही प्रेय है। इस प्रिय आत्मासे पूछो कि तुम्हे आगे भटकना ही पसद है क्या ? अगर नही भटकना पसद है तो जो इस मनुष्यभवका थोडा सा जीवन शेष रहा है उसको ठीक ढगसे बितायें। कपटरहित, कषाय मद करते हुए, अपने आत्मस्वरूपकी महिमा जानते हुए जो तीन लोक तीन कालके ज्ञानका स्वभाव रख रहा है, जो अनन्त आनन्दके लाभका स्वभाव रख रहा है उसकी महिमा जानें और वहाँ ही अपने उपयोगको रमानेका पौरुष बनायें, यही है सत्य पुरुषार्थ और बाकी जो इन विनश्वर परपदार्थोंकी ओर लगाव रहता है, यह अपने भगवान आत्मापर अन्याय करना है। जब किसी व्यक्तिपर

अन्याय करे तो उसका खोटा फल भोगना पडता है तब फिर जो भगवान आत्मापर अन्याय करे तो उसको तो नरक निगोद में, तिर्यञ्च भवोंमे जन्म मरणका दण्ड भोगना ही पडेगा इस निज भगवान अंतस्तत्त्वको अधिकाधिक जानें और जो अपना आनन्दमय अविकार स्वरूप है उसकी महिमा जानकर, वहीं ही रमकर अपने आपको संतुष्ट बनायें। यह अभ्यास इस दुर्लभ मानवजीवनमे चलना चाहिए।

सम्मत्तणाणदंसणवलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुषपापरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥६॥

(२३) **पंचमकालमें धर्मके उपासकोंकी श्लाघ्यता**— उत्कृष्ट ज्ञानी कौन है, इसका समाधान इस गाथामे किया गया है। जो भव्य पुरुष ज्ञान, दर्शन, बल इनमे बढे चढे हुए है और इस पचम कालमे भी जो कलुषताओसे, पापभावोसे रहित हैं वे उत्कृष्ट ज्ञानी हैं और वे शीघ्र ही निष्पाप हो जायेंगे। यह काल अवसर्पिणीका पंचम काल है। अवसर्पिणी उसे कहते है कि जिस कालमे लोगोका बुद्धि, बल, चारित्र ये सब हीनताकी ओर जायें। इस पचम कालके प्रारम्भमे मनुष्य करीब ७ हाथ के ऊँचे होते थे। आज घटते-घटते कोई साढे तीन हाथके रह गए, और घटते-घटते पचम कालके अन्तमे छठे कालके प्रारम्भमे एक हाथके ऊँचे मनुष्य रह जायेंगे। जब छठा काल पूरा होगा तब प्रलय होगी भरत क्षेत्रके आर्य खण्डमे, म्लेच्छ

खण्डमे प्रलय नही होती, लेकिन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके हिसाबसे साधारण थोडी ही हानि वृद्धि चलती है। तो इस पचमकालमे लोग आज पापरहित हो, सरल हो, धर्मानुरागी हो, यह भी एक बहुत बडी बात है। इसी बातको कह रहे हैं कि जो जीव इस कलिकालमे भी पापकी कलुषतासे रहित हैं वे शीघ्र ही उत्कृष्टज्ञानी बनेंगे और निकट कालमे केवलज्ञानी बन जायेंगे। आज न बन सकेंगे, कुछ भव पाकर बनेंगे।

(२४) **सम्यक्त्वबलसे वर्द्धमान जीवोंकी श्लाघ्यता**—कौनसे जीव निकटकालमे निकट भवमे केवलज्ञानी बनते है? जो सम्यक्त्वके बलमे बढ रहे है, सम्यग्दर्शन कहते हैं आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव होना। मैं क्या हू, इसके उत्तरमे सहज चैतन्यभाव चित्प्रकाश सामान्य प्रतिभास, जिसमे बाहरी पदार्थों के प्रति कोई तरग नही उत्पन्न होती, ऐसा वह चैतन्य सामान्य स्वरूप, तन्मात्र हू मैं। ऐसा जिसको दृढ विश्वास है वह कैसे दूसरे जीवोमे रागद्वेष बढा सकेगा? उसके मोह न हेगा। मोह अज्ञानमे ही रहता है। जहाँ प्रत्येक पदार्थका स्वनत्र स्वतंत्र अस्तित्व परख लिया गया वहाँ जीवको मोह नही रहता। कैसा सही विश्वास है ज्ञानी जीवको कि बाहरी पदार्थ चाहे कितना ही बिगडें सुधरें, कैसी ही स्थिति आ जाय उससे वह अपनी हानि लाभ नही समझता। चाहे लौकिक जनो द्वारा मानी गई कितनी ही विडम्बनायें आयें, पर गिर गया, कैसी

भी स्थिति आ गई हो, ज्ञानी जानता है कि मेरे आत्माका तो मात्र मेरा आत्मा ही है। जगतमें अनन्त जीव हैं जो पर हैं, जुदे हैं, ठीक उस ही प्रकार घरमें आये हुए प्राणी भी अत्यन्त भिन्न है, जुदे है, रंच भी सम्बंध नही है, उनकी परिणति उन ही मे हो रही है। उनके कर्म वे ही भोग रहे हैं, उनके भावोंका प्रभाव उन ही मे चलता है। उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उन ही में रह रहा है, फिर उसका क्या सम्बंध है ? रंच मात्र कहो, मात्रका भी सम्बंध नही, पर जब यह ज्ञान नही रहता, पदार्थकी स्वतंत्र सत्ताका बोध जब नही है तो वह अपने शरीरको ही तो अपना सर्वस्व समझ रहा है। तो उस शरीरके नातेसे दूसरे शरीरको भी अपना कुछ समझ रहा है। इस शरीरको जो रमाये उसको स्त्री, पति समझता है। इस शरीरके निमित्तसे जो शरीर उत्पन्न हो उसको पुत्र समझता है। ये सब कल्पनायें मिथ्यात्वमे हुआ करती हैं। जब तक जीवके मिथ्यात्व है कल्पनायें जग रही हैं तब तक इसको शान्तिका मार्ग मिल ही नही सकता। कर्तव्य करना और बात है। उसपर विश्वास ही बना ले कोई कि मेरा ही है यह सब, तो वह अज्ञानी है, दुर्गतिका पात्र है। जो जीव सम्यग्दर्शनमे बढे हुए है उनके समान पवित्र और महान किसे कहा जाय ? इस लोकमे सम्यक्त्वरहित पुरुष चाहे कितने ही ऊँचे हो, सरकारी ओहदो पर या धनमे या कलामे, लेकिन उनका कुछ

महत्त्व नही है इस दुनियामे, क्योंकि सबके साथ कर्म बँधे हैं, किसी भवका पुण्योदय आया और आज लोकमे उसे कुछ ऊँचापन मिल गया तो वह कोई स्वाभाविक चीज तो नही है। जो टिकी रहेगी, वह तो मिटेगी। भले ही एक इस मनुष्यभवमे बहुत बडी प्रशसा लूट ले कोई मगर उसका प्रभाव आगे तो नही रहनेका। आगे तो प्रभाव उसका चलेगा जैसे भाव इस जीवनमे बनाया। भीतरमे मायाचार है, तृष्णा है, मान (घमंड) है तो उससे जो कर्म बध हुआ उसका ही प्रभाव मिलेगा। ज्ञानी जीव इन सब बातोमे सुलझा हुआ है इस कारण वह कभी व्यग्र नही होता।

(२५) **ज्ञानीकी निर्व्यग्रताका राज**—ज्ञानीमे जो निराकुल रहनेकी कला आयी है उसका कारण सिर्फ एक इतना ही है कि उसने अपनी सहज सत्तासे जो कुछ इसका स्वरूप है उस रूप अपनेको मान लिया, मैं इससे बाहर नही, मैं स्वय यह ज्ञानानन्द स्वभाव वाला हू, स्वयमे स्वयका परिणमन कर रहा हू। भले ही अन्य पदार्थ ज्ञानमे आ रहे, पर अन्य पदार्थों को यह जानता नही, अन्य पदार्थोंकी यह अपेक्षा रखता नही। इस ज्ञानका स्वरूप ही ऐसा है जैसा पदार्थ है वैसा आकार स्वरूप इस ज्ञानमे झलक जाता है, जैसे दर्पण कही चल फिर कर दूसरे पदार्थोंकी फोटो नही लेता रहता है, वह तो अपनी जगह पडा है, सामने जो आया उसका स्वयमेव यहाँ प्रतिबिम्ब हो

जाता है, इसी तरह आत्माका स्वरूप चैतन्य है इस कारणसे स्वयमेव ही जो कुछ भी पदार्थ वाह्यमे हैं उनका आकार यहाँ झलकता है। ऐसी अपनी भीतरी समस्याको इस ज्ञानीने सुलझा लिया, तब इस तीन लोकमें किसी भी अन्य पदार्थमे यह सामर्थ्य नही, या कोई भी बाह्य पदार्थ इसके लिए जबरदस्ती न कर सकेंगे कि ये दु:खी ही रहें। यहाँ ज्ञानीको अब कोई भी वाह्य पदार्थ दु:ख देनेमे समर्थ नही। हाँ यह ज्ञानी ही जब ज्ञानभाव छोडकर स्वय अज्ञानदशामे आयगा तो वह दुखी हो लेगा। ज्ञानके बराबर प्रभाव जगतमे कुछ नही है। लोगोकी आदत है कि बडे घनिकको देखकर वे तृष्णा और ईर्ष्या रखते हैं, अगर यथार्थता ज्ञानमे आ जाय तो ये पुरुष बडोसे ईर्ष्या और तृष्णा करनेके एवजमे उनपर दयाभाव रखने लगें। ये बेचारे घनिक लोग बडे दु:खी हैं, इनको अपने आत्माकी कुछ सुध नही है। अपने आत्माकी सुधसे चिगकर वाहरी पदार्थोंको सर्वस्व मानकर इन बाहरी पदार्थोंमे ही उलझ रहे हैं और अपना दुर्लभ पावन मनुष्य जीवन गँवा रहे हैं। ऐसा ध्यान करेंगे ज्ञानी जन और अज्ञानी जनोपर दयाका भाव रखेंगे। आज भी जो सम्यक्त्वमे और ज्ञानमे वढे हुए पुरुष हैं वे शीघ्र ही, निकट भवमे ही केवलज्ञानी बनेंगे। अपने बारेमे एक वात विचारें कि ससारमे जन्म मरण कर करके अनन्त काल गुजारते हैं या इस जन्म मरणसे छूटकर अपने आपके अनन्त आनन्दको

भोगते हुए पवित्र रहना है ? इन दो मे से क्या होना है अपने बारेमे निर्णय बनाओ। यदि ससारमे जन्म मरण करते रहना है, यह ही ठान ली है तो यह तो अनादि कालसे चला आया है। यदि ऐसे ही विषयके इन फंदोमे पड़े रहे तो ये सब जन्म मरण बराबर मिलते ही रहेंगे। और, यदि ससारके संकटोसे छूटना है तो अपने आपमे आनेका साहस बनाओ। इस मोहको, अज्ञानको खतम कर दीजिये, कोई सकोच न रखो, ज्ञान प्रकाश सही लाइये। "निजको निज परको पर जान, फिर दु खका नहिं लेश निदान।" ज्ञानसे प्रीति हो, ज्ञानको ही वैभव मानें, ज्ञानमे ही बढते रहनेकी धुन बनावें। जो जीव ज्ञानमे वर्द्धमान हैं वे निकट कालमे ससारके समस्त संकटोसे मुक्ति पा लेंगे।

(२६) दर्शनगुणसे वर्द्धमान ज्ञानी जनोंकी श्लाघ्यता—आत्माका एक गुण है दर्शन। दर्शन एक ऐसा पवित्र भाव है कि दर्शनमे मिथ्यात्व नही आता ससर्गसे भी। जैसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, ये अगर मिथ्यात्वके साथ हैं तो ये कुमति, कुश्रुत, कुअवधि हो जाते है। मिथ्यादृष्टिके भी दर्शन कुदर्शन नही होते वह तो एक ही प्रकारका है। झलक हुई, उसे अच्छे बुरेसे मतलब नही, उसे इष्ट अनिष्टका विकल्प नही, वह तो केवल एक जाननहार अतस्तत्वका अवलोकन करता है। यदि इस दर्शनका ही दर्शन हो जाय तो सम्यग्दर्शन होना सुगम है।

आत्माका दर्शन गुण आत्मप्रतिभास स्वरूप, इस कलामे जो बढ रहे है वे पुरुष शीघ्र ही केवलज्ञानी बनेंगे ।

(२७) **आत्मबलसे वर्द्धमान ज्ञानी जनोंकी श्लाघ्यता**— आत्माका बल क्या है ? शुद्ध ज्ञानदर्शन होना रागविकार इस मे न जगें और अपनी सही कलासे, अपने चैतन्यस्वरूपसे यह सतत प्रकाशमान रहे, इसके लिए जीवमे अनन्त बल हुआ करता है । अपनी शक्तियोको अपनेमे ही डाटे रहना और इस का परिणाम अपने सयमसे, केन्द्रसे दूर न जाय, इसके लिए अनन्त बलकी आवश्यकता होती है । एक साधारण अदाज लगाओ—शरीरमे खून, मांस, पीप, नाक, थूक वगैरह ये सब चीजें पडी भई हैं । ये कोई चीज बाहर न निकलें उसके लिए शरीरमे कुछ शक्ति चाहिए कि नही ? यदि शरीरमे बल नही है तो लार गिरेगी, नाक गिरेगी, चमडीमे झुर्री आ जायगी । तो जैसे शरीरमें रहने वाली चीजोको शरीरमे डाले रखनेके लिए बल चाहिए, तब फिर आत्मामे रहने वाले गुणोको आत्मामें ही डाटे रहे ये बाह्यमे न उलझें, इसके लिए आत्मबल चाहिए । ससारके लौकिक कामोमे खूब बढे चढ़े पुरुष अपने को बडा शूर बीर समझते है, मगर शूर वीरता तो विषयोका परिहार करनेमे है, विषयोमे लगनेमे शूरवीरता नही है । "भोग तजना शूरोंका काम, भोग भोगना बडा आसान ।" भोगोका भोगना आसान है मगर भोगोका तज देना यह शूर वीरोका

काम है । तो अपने ही गुण अपनेमे ही रहें, अपने गुण अपना स्वाभाविक काम करते रहें इसके लिए बल चाहिये । जिसे कहते है वीर्य, आत्मशक्ति । इसमे जो बढ रहे है इस कलि- कालमे भी वे पुरुष यथा शीघ्र ही निकट भवोमे केवलज्ञानी बनेंगे ।

(२८) **कलिकालमे धर्मोपासकोकी विरलता**—आज कभी कभी यो लोगोकी समझमे आने लगता कि अब तो धर्म वाले, ज्ञान वाले खूब बढ चढ रहे हैं। ज्ञानमे भी बढ रहे है, धार्मिक ज्ञानमे भी बढ रहे हैं, अगर वे कोई मिशन बनाकर चलते हैं तो वे कषायमे बढ रहे कि धर्ममे बढ रहे ? पचमकालमे कषा- योकी तो बढवारी है, पर धर्म, ज्ञान, श्रद्धान, इनकी हीनता चल रही है । इसीको ही तो पचमकाल कहते हैं । तो ऐसे निकृष्ट कालमे भी जो जीव पापकालिमासे रहित हैं अथवा अपने गुणोमे बढ रहे हैं वे पुरुष धन्य हैं । अपने आपमे अपने आत्माकी सम्हाल रखना, अपने आत्मस्वरूपको निरखना, यह अपने आपको बडा काम देगा । और, अपने स्वरूपकी सुधसे हटकर बाहरी लोकमे यह मेरा परिवार है, ये मेरे मित्रजन है, इस इस प्रकारकी जो बुद्धिया बन रही है, यह बुद्धि कष्ट देने वाली है । आनन्दका धाम तो स्वय यह भगवान आत्मा है । और, अपने आत्माका जो सहज चैतन्य चमत्कार मात्र अपना स्वरूप अपनी दृष्टिमे हो तो वह है आत्माका उत्थान । इसमे

बढनेकी धुन बनानी चाहिये। यह आत्मधुन अपने स्वरूपमे रमनेकी बढ़ोतरी स्वरूपदृष्टिके अभ्याससे बनेगी, और यह स्वरूपदर्शन मननसे होता है और मनन करने वाले पुरुष इस तरह भी प्राप्त कर लेते है कि बाहरी पदार्थोंको सबसे असार जानकर, अपनेसे भिन्न जानकर उनका ख्याल छोड देते है। दूसरा कोई भी पदार्थ मेरे लिए हितकारी नही है। मुझसे सभी अत्यन्त भिन्न हैं, उनको क्यो अपनाना ? उनसे क्यो सम्बन्ध बढाना ? मरनेपर तो अकेला ही जाना पडता है। तो इस जीवनमे जिनका संयोग हुआ है उनमे मोहका अभ्यास किया, उनका लगाव बढाया तो इस समय भी दुःख रहा और अगले भवमे भी दुःख ही मिलेगा, इसलिए अपनेको दु खी करने वाली बातसे क्यो मोह बन रहा ? वैराग्य और ज्ञान ये दो ही आनन्दके कारण हैं।

(२६) विकारसे प्रीति तजकर अविकारस्वरूपमे रति करनेका अनुरोध–राग अज्ञान ये नियमसे आकुलता ही उत्पन्न करते हैं। स्वरूप ही उनका ऐसा है। जैसे कोयलेका स्वरूप काला ही है। जहाँ कोयलेका धरना उठाना अधिक चल रहा है वह स्थान स्वच्छ (सफेद) कैसे रह सकेगा ? ऐसे ही जिस जीवमे राग और अज्ञान चल रहा है वह जीव निराकुल और शान्त कैसे रह सकता है ? हिम्मत बनायें। जब ससारमे हर तरहसे कष्ट पाते है हम, तो वैराग्य और ज्ञानकी दिशामे बढ़ने

मे अगर कोई कष्ट भी आये तो जहाँ हजारों कष्ट सहते हैं वहाँ जरा यह भी कष्ट सहकर देख लें। यह कष्ट तो केवल मानने भरका है, कल्पनाका है। और सारे कष्ट भी कल्पनाके हैं। कल्पना स्वय दु:खरूप है। किन्तु वैराग्य और ज्ञानमे कोई मिथ्या कल्पना नही है इस कारण वैराग्य और ज्ञान स्वय आनन्दस्वरूप हैं। ज्ञान और वैराग्यका आदर करें, निर्णय रखें कि जो भी मुझमे राग चल रहा है वह नियमसे अपवित्र ही है, औपाधिक है, परभाव है, कर्मविपाककी झाँकी भर है, उससे मेरा कोई सम्बंध नही, वह मेरा स्वरूप नही। मैं तो उससे निराला केवल चैतन्य चमत्कारमात्र हू, ऐसे सहज चैतन्य चमत्कारमात्र अतस्तत्त्वमे यह मैं हू, अन्य कुछ नही, सही ईमानदारीसे ऐसा अपने आपमे दृढ निर्णय करके अपने आपमे निरखेंगे तो नियमसे कर्मबन्धन टूटेंगे। खुद ही महान् बल है। खुद ही अपने आपका गुरु है, खुद ही अपने आपका देवता है। खुद ही यह शास्त्रस्वरूप है अपने आपके सहज स्वभाव रूपमे अपने आपको निरखे, फिर इस जीवको कोई सकट सता नही सकता। सकटोके अगर नाम लेकर परीक्षा करें तो आपको केवल कल्पना और अपने आपका भोदूपन ही नजर आयगा। बताओ—अगर यह भीत गिर गई तो क्या आपका अमूर्त आत्मा गिर गया? उसका क्यो कष्ट माना जा रहा? वह तो बेवकूफी है। बिल्कुल अज्ञान भरी बात है। व्यर्थ ही उसकी ओर इतना

लगाव बढ़ा रखा है। अरे रहना है उस जगह तो कर्तव्य कर लो, गुजारा करना है, जैसे बने वैसे गुजारा हो जायगा, मगर उसका अफसोस करना यह महान अज्ञान है। बाह्य पदार्थ कैसे के कैसे ही परिणम जायें, उससे मेरी कुछ हानि नही, किन्तु मेरा किसी पर पदार्थमे लगाव और मोह रहता है तो उससे तत्काल अनर्थ हो रहा है। इस अनर्थका फल दूसरा कोई भोगने न आयगा खुदको ही भोगना पड़ेगा। ये सब बातें जानकर अपनेको शान्त जीवन बिताना चाहिए, कलुषताओसे दूर रहना चाहिए, जो सही आत्मस्वरूप है उसकी ओर ही लगकर अपनेमे सतोष पायें, बस यह ही एक निर्णय बने। इस आधारसे जीवन चले तो हम आप निकट कालमे सर्व सकटसे छूटकर केवलज्ञानी बन सकेंगे।

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्च हियए पवट्टए जस्स ।
कम्मं वालुयवरण बधुच्चिय णासए तस्स ।।७।।

(२०) सम्यक्त्वसलिल प्रवाहसे कर्मरजका नाश—जिसके हृदयमे सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह निरन्तर प्रवर्तमान होता है उस जीवके कर्मरज ऐसा नष्ट हो जाता है कि पूर्वमे बद्ध भव भवके कर्म भी दूर हो जाते है। कर्म क्या चीज हैं ? एक पौद्गलिक वर्गणायें हैं, धूल क्या चीज है ? पौद्गलिक वर्गणायें है, धूल मिट्टी जैसी चीज है, कार्माण वर्गणायें सूक्ष्म चीज हैं। जो कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं वे सब अभीसे ही इस जीवके साथ लगी हुई हैं, कही बाहरसे नही लानी पड़ती

कि ये कर्म बध जायें, किन्तु जीवके ही साथ विश्रसोपचय लगे हुए है। विश्रसोपचयका अर्थ है—विश्रसा उपचय, स्वभावसे ढेर, याने वे कार्माण वर्गणायें स्वभावसे ही लगी हुई हैं, ऐसी उनकी आदत है, जितने कर्मरूप पुद्गल बँधे हुए है उससे अनन्त गुणे विश्रसोपचय जीवके साथ लगे हुए हैं। जीवने कषाय किया कि तुरन्त वह कर्मरूप हो जाती है। कोई पुरुष सोचे कि मैं अकेले ही अकेले पाप कर रहा हू, मेरेको कोई देखने वाला नही है इस कारण मुझे कुछ नुक्सान नही, मगर नुक्सान क्या दिखनेसे होता है? कार्माण वर्गणायें तो जीवके साथ सदा लगी हुई हैं ससारमे। जहाँ ही जीवने कषाय किया वहाँ वह कर्मरूप हो जाती है। इस बातको कौन टाल सकता है? इससे सदा यह ध्यान रखना कि यदि मैं खोटे भाव करूँ तो तुरन्त ही मेरे विश्रसोपचय कर्मरूप हो जायेंगे। तो जो जीवके साथ कर्म लगे है वे हैं धूल माफिक, इसी कारण धूलका आवरण है यह समझिये। जीवके साथ कर्मरजका आवरण है। जैसे धूल बिखर जाय ऊपर, तो प्रकाश कम हो जाता है ऐसे हो कर्मरज जब जीवके साथ बँधी है तो इसके ज्ञानसूर्यका प्रकाश कम हो जाता है। मिटता नही है। जैसे दिनमे कितने ही बादल सूर्यके आडे आयें फिर भी उसका कुछ आभास रहता कि यह दिन हैं, बिल्कुल रात नही मालूम होती, ऐसे ही इस आत्माके आड़े कितने ही कर्म आये तो भी इसका ज्ञान पूरा नही मिटता, भा-

भास रहेगा। जहाँ जीव एकेन्द्रिय हो, निगोद हो वहाँ भी इस का ज्ञान पूरा मिटा नही। स्वभाव कभी मिटता नही, और इस ज्ञानका तो कुछ न कुछ प्रकाश सदा रहता है।

(३१) कर्मबन्धविधान— जैसे ही जीवने कषाय किया वैसे ही जीवके साथ लगे हुए विश्रसोपचय कर्मरूप बँध जाते है। अब ये कर्म बँध गए। बँधनेके साथ ही इन कर्मोंमे आदत भी बँध गई कि यह कर्म इस प्रकारके फलका निमित्त है या इस प्रकारकी इसमे आदत हो गई, उसमे स्थिति भी बन गई कि ये कर्म इस जीवके साथ इतने समय तक रहेगे। उसमे अनुभाग भी बव गया कि ये कर्म इतनी डिग्रीका फल देने वाला होगा, और उसमे परमाणु तो है ही, तो ऐसे ही, बँधे हुए कर्म जब अपने कालमे उदयमे आते हैं या किसी कारणवश कर्मोंकी उदीर्णा होती है अर्थात् स्थितिसे पहले ही वे फल देने लगते हैं तो उस समय इस जीवके उपयोगमे उनकी झाँकी होती है, इस जीवका भाव बिगडता है, जहाँ जीवका भाव बिगड़ा कि नवीन कर्मोंका आश्रव होता है। आश्रवके मायने क्या है ? आना। पर ऐसा आना नही कि कोई दूरसे दौडकर आये, किन्तु चूकर आना। जैसे पहाडमे से पानी चूकर आता है अथवा जैसे बरसातमे छतके नीचे बूद सी हो जाती है ऐसा चूकर आनेका नाम है आश्रव। तो चूकर आना तब ही होगा जो उस जगह पड़ा हुआ हो। तो ये कर्मके विश्रसोपचय इस आत्माके प्रदेशोमे पड़े

हुए हैं, जब जीवके भाव खोटे होते हैं तो वे कर्मरूप बन जाते हैं, ऐसे ये क्लेशके कारणभूत कर्म परमाणु स्कध हैं।

(३२) कर्मधूलि धुलनेका मन्त्र—ये बद्ध कर्मरज कैसे मिटेंगे ? कैसे बहेगे ? यह कर्मधूल सम्यक्त्वरूप जलके प्रवाह से धुलेगी। पानीका प्रवाह होता है तो धूल बह जाती है। कमरे मे धुल बहुत आ गई हो तो उसे थोडा झाडते भी हैं, बादमे पानीसे उसे बहाते है, तब फर्श बिल्कुल साफ हो जाता है, तो ऐसे ही आत्मामे बँधी हुई यह कर्मरज सम्यक्त्वरूपी जलके प्रवाहसे धोयी जा सकती है। तो जिसके हृदयमे सम्यक्त्वजल का प्रवाह बह रहा है उनकी भव-भवकी बाँधी हुई कर्मरज भी धुल जाती है। कितने ही दिनकी धूल पडी हो कमरेमे तो जल के प्रवाहसे उसे बहा दिया जाता है ऐसे ही ये कितने ही भवो के कर्म बँधे पड़े हुए हैं, सम्यक्त्व जलके प्रवाहसे वे सब कर्म बहा दिए जाते हैं। सम्यक्त्वका प्रवाह भी कही बाहरसे नही आता है। अपने आपके सहजस्वभावकी दृष्टि हो, प्रतीति हो, अनुभूति हो तो यह ही सम्यक्त्व जलका प्रवाह है। अपना प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम अपनेको अधिकाधिक क्षण ऐसा अनुभव करें, ऐसा मनन करें कि मैंतो स्वय सहज अपने आप अपने ही स्वरूपके कारण केवल एक चैतन्यमात्र हू, जिनमे विकारका कोई प्रसग नही। इस स्वरूपमे कोई विकार नही है। उसका तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। समस्त पर

भावोंसे विविक्त है ।

(३३) **कर्मोदयका प्रतिफलन**—विकार तो कर्मरसकी फोटो है, छाया प्रतिफलन है, वह मेरा स्वरूप नही । मैं तो शुद्ध जाननहार हू, इस तरह अपने आपको जिसने ग्रहण किया उसने क्या पाया ? उसने वह तत्त्व पाया कि जिसकी तुलना तीन लोकके वैभवसे भी नही हो सकती । क्या करेगा तीन लोकका वैभव ? वह तो पडा है अपनी जगह, कोई सुख तो नही देता वैभव । भोगनेके प्रसगमे भी जो सुख होता है वह वैभवसे आया हुआ सुख नही है, किन्तु अपनेमे बसा हुआ जो आनन्दगुण है उस आनन्दगुणके विकासका सुख है । वह विकास विकृत है इसलिए सुख कहलाता है । यदि यह विकास विकाररहित हो तो इसीको अनन्त आनन्द कहते हैं । मेरा सुख किन्ही बाहरी पदार्थोंसे नही मिलता, किन्तु मेरे ही ज्ञान मे उस प्रकारकी बात उठी कि जिससे सुखका अनुभव किया । यहाँ भी देखा जाता है कि मानो किसी धनिकका कोई व्यापार कलकत्तामे चल रहा है, उसे किसी तरह खबर मिल जाय, चाहे झूठमूठ ही मिले कि इस वार व्यापारमे ५ लाखका फायदा हुआ तो यह यहाँ दुःखकी स्थितिमे रहता हुआ भी अपनेको सुखी अनुभव करता है और मानो हुआ हो तो फायदा और तारमे उल्टी समझ बन जाय कि इस वर्ष व्यापारमे ५ लाखकी हानि हुई तो यह सुखकी स्थितिमे रहता हुआ भी

अपनेको दु खी अनुभव करता है। तो भाई यह धन-सम्पदा किसीको सुख दु ख नही देता, किन्तु सारा सुख दु ख जीवकी कल्पनापर निर्भर है। इसी कारण वे पुरुष धन्य हैं। जिनका ऐसा सत्संग हुआ वहाँ अटपट कल्पनायें ही न जगें, जहाँ ज्ञानानदमय आत्मतत्त्वका ध्यान रहे। मैं स्वय आनन्दस्वरूप हूं, मेरेमे रंच भी कष्ट नही है, दूसरे जीव अज्ञानसे दु खी हो रहे हैं। तो अज्ञानसे दु'खी होने वालेको दुःखी देखकर अपने आपपर मोहका भार क्यो चढाया जा रहा है ? घरमे रहने वाले जीव उतने ही जुदे है जितने कि जगतके अनन्ते जीव जुदे हैं। रच भी सम्बध नही है, अज्ञानके वश होकर अनते जीव दु ख पा रहे हैं। उनके दु खसे यह मोही दुःखी नही है, पर जिनको मान लिया कि ये मेरे है उनको दुःख होवे तो यह स्वय दुःखी हो जाता है। इसका कारण क्या है ? दया नही, किन्तु मोह। ऐसी दयाको तो मोह बताया गया है। जो उपेक्षा के योग्य है। उन पदार्थोंमे करुणा बसायी जायगी तो वह मोह है। करुणाबुद्धि होती हो तो सबपर क्यो नही होती ? केवल दो चार जीवोपर ही क्यो होती ? उसका कारण है मोह। तो जहाँ मोह नही रहता, स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ताका परिचय हो जाता है और अपने आनन्दस्वरूप आत्माका अनुभव हो जाता है वहां सम्यक्त्व प्रकट होता है। जहाँ ऐसा आशय है, यथार्थ अभिप्राय है वहांप' कर्मरज वह जाता है। वह जमकर नही रह सकता। पौरुष होना चाहिए तो अपने स्व-

भावकी दृष्टिका पौरुष हो, और यही सच्चा रक्षाबंधन है। इस बाहरी रक्षाबंधनमे क्या रखा है ? आत्माकी जिस दृष्टिके द्वारा रक्षा हो सकती है उस दृष्टिको बांधना, उस दृष्टिमे रहना, यह ही आत्माकी सच्ची रक्षा कहलाती है।

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठविभट्ठा सेस पि जणं विणासंति ॥८॥

(३४) दर्शनभ्रष्टताकी मूल भ्रष्टता और भ्रष्टोंकी उपासना मे उपासकोकी भ्रष्टता—जो पुरुष सम्यग्दर्शनमे भ्रष्ट है और ज्ञानमे भ्रष्ट हैं, चारित्रमे भ्रष्ट है वे जीव तो भ्रष्टसे भी भ्रष्ट हैं, और स्वय भ्रष्ट तो हैं ही, अन्य जीवोको भी भ्रष्ट किया करते है। जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं, किन्तु ज्ञान, चारित्रकी बात है ही नही वे तो अजान लोग हैं, उनका तो लोकमे कुछ धार्मिक सम्बध ही नही है, पर जो जीव हो तो तीनोसे भ्रष्ट, लेकिन साधुका रूप रख लें तो उनके द्वारा दूसरो का भी पतन होता है, अब जैसे तीनोसे भ्रष्ट गृहस्थ जन हैं, सामान्य लोग है उनके द्वारा दूसरोका पतन नही है, किन्तु जिनको गुरु माना और ये हो सबमे भ्रष्ट, तो उनके संगमे भक्तोका भी पतन होता है। जो लोग ऐसे हैं कि श्रद्धान तो कुछ है ही नही, फिर भी व्यवहारमे न कुछ ज्ञानकी बात है और न कुछ चारित्रकी बात है उसकी वजहसे अन्य जीव भी भ्रष्ट हो गए और फिर वह अपनेको साधुपना जताये तो उसमे

न उनका उद्धार है और न उनके भक्तोका। एक कहावत है– "घुट्टू देवी ऊँट पुजारी।" कोई एक घुट्टू देवी थी, वह तो वैसे ही टूटी फूटीसी थी और फिर उसका पुजारी भी कोई ऊँट था, मनुष्य नही। जैसा देव वैसा ही पुजारी। तो ऐसे ही दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे जो भ्रष्ट हैं वे स्वय भ्रष्ट हैं और उनके आराधक पूजक वे भी भ्रष्ट है, वे अपना विनाश कर रहे है। इस दर्शनपाहुड ग्रंथमें एक यह प्रकरण यहाँ चल रहा है कि जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हो वे मोक्षमार्गमे तो नही हैं, लेकिन चारित्र पाल रहे हो ऊपरी, सब क्रियायें वगैरह ठीक कर रहे हो तो उनके द्वारा तीर्थप्रवृत्ति तो नही बिगडती, जो एक व्यवहारधर्मकी परम्परा है उसमे बिगाड नही होता, उनका खुदमे बिगाड है, क्योकि अपने स्वरूपका उनको अनुभव नही है। इस सम्यग्दर्शनका पता दूसरोको तो नही रहता कि इसको सम्यग्दर्शन है या नहीं। यदि कोई अत्यन्त ही विरुद्ध क्रिया करे तो उसे देखकर यह तो अनुमान हो जायगा कि इसको सम्यग्दर्शन नही है, पर सम्यग्दर्शन है यह बात जानना कठिन है। जब ऐसी समता वाले मुनि जो उपसर्ग किए जाने पर भी उपसर्ग करने वालेपर भी द्वेष नही करते, ऐसी समता व्यवहारमे होकर भी सम्यग्दर्शन न हो, यह हो सकता है तब फिर इसमे सम्यग्दर्शन है इसका परिचय पाना कठिन है, इसलिए उसकी तो हम चर्चा क्या करें, पर जो व्यवहारमे ज्ञान

और चारित्रसे भृष्ट है, आचरण जिनका योग्य नही है, अपने मतके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे भृष्ट है वे पुरुष तो उद्दण्ड हैं, वे खुद तो भृष्ट है ही मगर जो जो लोग उनकी सगतिमे रहते हैं वे भी भृष्ट हो जाते है। दूसरी बात कोई भक्त भला भी हो, कुछ आचरणसे, इन बातोसे भी भृष्ट है उनकी सेवा संगति सुश्रुषा करना योग्य नही है। क्योकि ऐसे अतिभृष्ट पुरुषोका पालन पोषण सेवा सुश्रुषा करनेका अर्थ यह है कि कुमार्गमें चलनेका प्रोत्साहन दिया है। तो जो अतिभृष्ट लोग है, तीनोसे भृष्ट है, न श्रद्धान है, न कुछ ज्ञान है और आचरण भी खोटा है, ऐसे पुरुष स्वयं भी नष्ट होते हैं, वे अपने आत्माको घात कर रहे हैं और उनके सेवकजन भी अपना घात करते है।

जो कोवि धम्मसीलो सजमतवणियमजोगगुणधारी।
तस्स य दोस कहता भग्गा भग्गत्तण दिति ॥ ६ ॥

(३५) **धर्मशील संतोंके दोष निकालने वाले पुरुषोंकी भ्रष्टता**—जो साधु धर्मशील हैं, सही हैं, जो अपना स्वरूप है सो धर्म है और उस स्वरूपधर्मपर जिनकी दृष्टि चल रही है वे पुरुष धर्मशील कहलाते, याने आत्माका जो स्वभाव है उस ही स्वभावकी अभिमुखता जिनको रुचिकर है और स्वभावके अभिमुख होनेका यत्न भी रखते है वे पुरुष धर्मशील कहलाते हैं। जिन्हे अपने स्वभावका परिचय नही वे पुरुष व्यवहारसे कितना ही पूजन बदन तपश्चरण कैसा ही कुछ करें फिर भी

वे धर्मशील नही कहलाते । व्यवहारमे उन्हें धर्मात्मा तो कह देंगे, लौकिकजन उन्हें पुकाररेंगे कि ये धर्म करने वाले हैं, मगर उनका आत्मा धर्मशील नही है। धर्मकी ओर ही जिनकी रुचि हो उन्हें धर्मशील कहते हैं। तो कोई साधुपुरुष धर्मशील है, यथार्थ है, अपने अनुभव बलसे आत्मीय आनन्द पाया है ऐसा कोई पुरुष है और उसका कोई लोग दोष बोलें, दोष लगायें तो दोष लगाने वाले वे लोग भ्रष्ट हैं और यह समझो कि अपना अभिमान पोषनेके लिए धर्मात्मा पुरुषमे वे दोष लगाते हैं। ऐसे लोगोकी भी कमी नही है कि जो विशुद्ध धर्मशील योगी-जनोमे भी दोष लगाते हैं। जो लोग दूसरेमे दोष लगाते हैं उनको अपने आपमे कुछ अभिमान अवश्य है। अपने आपमे गर्व हुए बिना मैं बहुत सही हू, ढगसे धर्मधारण करता हूं, अन्य लोग कुछ नही ऐसा कुछ अभिमान बना नहीं सकते। दूसरोसे अपनी उच्चता जताना वे ही पुरुष किया करते हैं जो दूसरोके दोष देखनेके अभ्यासी होते हैं। तो जो पुरुष धर्मशील हैं, आत्मस्वभावकी ओर अभिमुख रहा करते हैं ऐसे पुरुषोके प्रति भी कोई लोग दोषकी बात कहें तो वे स्वय भ्रष्ट हैं। वे दोष कहने वाले लोग स्वय अपने अभिमानसे दूसरोके दोष बतला रहे हैं।

(३६) संयमी सतोके दोष निकालने वालोकी धृष्टता—जो साधुजन इद्रियजयी हैं अर्थात् इन्द्रिय और मनका निग्रह करनहार है, जिन्होने इन्द्रियको वश कर रखा है, जो जिह्वाके लपटी

भी नही है । जो स्वादकी अभिलाषा भी नही रखते, भले ही चूकि आहार लेना आवश्यक है जीवनकी रक्षाके लिए, जीवन चाहिए संयमके लिए सो वे साधुजन आहार भी ग्रहण करते है मगर इन्द्रियपर बराबर निग्रह है । उनको किसी प्रकारके स्वादमे आशक्ति नही होती । तो जो साधु पुरुष पञ्चेन्द्रियके बशमे नही है, मनके बशमे नही हैं ऐसे पुरुष उच्च होते है । मनका विषय क्या है ? कीर्ति ख्याति नामवरी अथवा विषयों का चिन्तवन, निदानकी आशा, ये सब भाव मनके विषय कहलाते हैं । तो जो साधुजन मनपर भी नियन्त्रण रखे हुए हैं, जैसे कहते हैं न—"हम तो उन चरणनके दास जिन्होने मन मार लिया", जिन्होंने अपने मनको वशमे किया है, जो किसी इन्द्रिय विषयकी चाह नही करते, जगतके जीवोमे जो अपने आपकी ख्याति नही चाहते, ऐसा जिन्होने मनपर भी निग्रह किया है वे कहलाते हैं संयमी जन । ऐसे संयमी जनोके प्रति भी जो दोषकी बात कहते हैं, दोष तो उनमे हैं नही, पर बनाये जाते हैं । तो वे दोष कहने वाले पुरुष स्वयं भ्रष्ट हैं, पर अपनी उच्चता बतानेके लिए चाहे वे संयम रंच भी न पालें, प्रकट रूपमे भी असंयमी है, पर ऐसा जनानेके लिए कि संयमी जनोसे भी हमारा आचरण अच्छा है, या कुछ भी बात अभिमान पोषनेके लिए संयमी जनोमे लोग दोषके कहने वाले लोग स्वयं भ्रष्ट हैं और इसी कारण वे दूसरोमे भ्रष्टताका आरोप करते हैं ।

(३७) तपस्वी संतोके दोष निकालने वालोकी भ्रष्टता— जो पुरुष अन्तरङ्ग बहिरङ्ग तपश्चरणमे सावधान हैं, तपश्चरण भली भांति करते हैं वे पुरुष तपस्वी कहलाते हैं। (१) अनशनतप आहारका त्याग करना, उपवास करना। भोजनका त्याग करके अपने आपके आत्मामें निवास करना, उसे कहते हैं अनशन। (२) ऊनोदर, ऊन मायने कम उदर मायने पेट याने पेटमे जितनी भूख हो उससे कम खाना। कोई कोई लोग तो कहते हैं कि अनशन करना तो सरल है पर ऊनोदर करना कठिन है, क्योंकि भोजनका प्रसंग मिला है, सामने आहार हाजिर है, खा रहे और खाते समय आधा पेट ही खाकर छोड दिया, यह लोग कुछ कठिन मानते हैं लेकिन जिनको अपने आत्मतत्त्वकी उपासनाकी धुन लगी है वे तो जितना भी खा लिया आधा पेट या पाव पेट बस उतना ही उनके लिए बहुत है। जैसे खेल खेलनेके शौकीन बालकको माँ जबरदस्ती पकडकर उसे खाना खिलाती है पर उसका ध्यान उस खेलमे होनेसे बड़ी जल्दी जल्दीमे बस थोडा सा ही खाकर वह भग जाता है, और खेल खेलने लगता है, उसे खेल खेलनेकी इतनी धुन होती कि वह भरपेट भोजन नही कर पाता। तो ऐसे ही जिनको अपने आत्माकी उपासनाकी धुन लगी है उनके तो यह बहुत कुछ सम्भव है कि कोई भली प्रकार भरपेट भोजन कर लें। थोडा सा आहार होना और

उसे छोडकर चल देना यह ऊनोदर तप है। (३) वृत्तपरसख्यान जो मुनि आहार मिलनेकी अपेक्षा आहार न मिलनेमें बडी प्रसन्नता रखनेके अभ्यासी हैं वे अटपट प्रतिज्ञायें लिया करते हैं भोजनके समयमे। मुझे आहार न मिले, यह विचार कर ले लिया कोई अटपट नियम, जैसे आज हम अमुक गली मे से चर्याके लिए निकलेंगे, अगर वहा इतने चौके छोडकर आहार मिलेगा तो लूंगा नही तो न लूंगा, एक साधुने तो यह भी नियम लिया था कि आहार चर्याके समय मुझे कोई बैल ऐसा दिख जाय कि जिसकी सीगमे गुडकी भेली भिदी हुई हो, यदि ऐसा दिख जाता है तो मैं आहार लूंगा नही तो न लूगा। ऐसा नियम उस साधुने इसलिए लिया कि ऐसा योग तो मिलना बहुत कठिन है और मैं आहार लेनेके झझटसे बच जाऊँगा। यद्यपि उनको भूख लगेगी, आहार चर्याके लिए भी निकलेंगे, मगर वहाँ उनका अधिक अभिप्राय यह है कि बिना आहार किए मेरे कई दिन बीतें तो मेरे ध्यानमे विशेषता आवे, मुझमे कोई प्रमाद न रहे। सो साधुने वैसा नियम लिया, कुछ दिन बिना आहारके बीत गए। चर्या ही न बने। अचानक एक योग ऐसा जुडा कि जिस समय वह साधु चर्याको जा रहे थे उसी समय एक बैल आकर गुड वालेकी दुकानमे गुड खाने लगा। उस दुकानदारने बैलको भगाया तो जल्दी जल्दीमे बैल का मुख कुछ ऊँचा नीचा टेढ़ा मेढ़ा होनेसे उसकी सीगमे गुड़

की भेली भिद गई। साधुको वह दृश्य उस समय दिख गया, उसका नियम पूरा हुआ तब आहार ग्रहण किया। तो व्रतपरसख्यान भी बड़ा कठिन तप है। (४) रसपरित्याग—दो रस, चार रसका त्याग कर देना, छहो रसोका त्याग कर देना, नीरस आहार लेना, यह सब रसपरित्याग कहलाता है। (५) विविक्त शय्यासन—एकान्त स्थानमे ही सोना, बैठना, ध्यान लगाना जहाँ कि कोई पुरुष ही नही है, निर्जन वन, वह विविक्त शय्यासन है, ऐसा भली प्रकार जो मुनि तपश्चरण कर रहे हैं तो मुनियोमे भी कोई लोग दोष लगायें तो वे दोष कहने वाले लोग स्वय भ्रष्ट हैं। और वे अपने अभिमानके कारण साधु संतोमे दोषकी बात कहा करते है। (६) काय-क्लेश—ये ६ बाह्य तप हुए।

(३८) **अन्तस्तपस्वी संतोमे दोष निकालने वालोकी भ्रष्टता**—६ है अन्तरङ्ग तप—वे और भी अधिक विशेष अतिशय रखते हैं—(१) प्रायश्चित्त—कोई दोष लग गया साधुमे तो उस दोषपर उसे बड़ा पछतावा हो रहा। उस दोष निवारणके लिए कोई प्रायश्चित्त ले रहे, उन्हे निभा रहे, वह प्रायश्चित्त तप है। अज्ञानीजन तो मोह किए जा रहे हैं निरन्तर दनादन पर उन्हे किसी भी दिन पछतावा नही आता कि मैं क्यो व्यर्थमे मोह ही मोहमे रहकर अपना जीवन बिता रहा हू। पछतावामे तो बड़ी विशुद्धि जगती है। कर्मो-

दय आया, कोई दोष लग गया, मगर उस दोषके बाद उसके प्रति बडा पछतावा होता है। कहाँ तो मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव और कहाँ ऐसी खोटी क्रिया भावना हुई। ज्ञानानन्दस्वभाव को निरन्तर तकता हुआ अपनी क्रियापर पछता रहा है। यह प्रायश्चित्त तप है। (२) विनय तप सभी जीवोको अपने समान स्वरूप वाला निरखना यह सभी जीवोके प्रति विनय है। जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके धारी हैं उनके मन, वचन, कायका अभिवादन करना, वंदन करना, प्रशसा करना उस रत्नत्रयपर दृष्टि रखना ये सब विनयतप कहलाते है। अपने आपके स्वभावको निरखकर, धन्य है यह स्वरूप अविकार है। स्वयमे सहज कोई विकार नही है, ऐसे अपने अविकार स्वरूपको देखकर प्रमोद करना, उस स्वरूपके माहात्म्य को समझना यह आत्मविनय है। विनय भी एक तप है। (३) वैयावृत्ति अपने आपको धर्ममार्गमे लगाये रखना, दूसरे धर्मात्मा जनोको सेवा सुश्रुषा करना, कोई बीमार हो, असक्त हो उसकी हर प्रकार सेवा करना, थक गये हो तो पैर दबाना और और प्रकार योग्य रीतिसे उनकी सेवा करना ये सब वैयावृत्ति तप कहलाते हैं। (४) स्वाध्याय तप—शास्त्रोका अध्ययन इस पद्धतिसे हो कि जिसमे स्वका अध्ययन चलता रहे। मैं आत्मा क्या हू, मैं आत्मा क्या बन गया हूं, मुझ आत्माको क्या होना चाहिए था, इन सब बातोका जिनके

यथार्थ विचार है ऐसे मनन पूर्वक शास्त्रोका स्वाध्याय करना स्वाध्याय तप है। (५) कायोत्सर्ग शरीरमे ममत्वका त्याग, शरीरमे कोई ममता नही, जिनकी दृष्टिमे यह ज्ञानस्वभावी आत्मा स्पष्ट अविकार स्वभावी दिख रहा है। आनन्दस्वरूप नजरमे आया है, सर्व पदार्थोसे अत्यन्त विविक्त विदित हुआ है उनको शरीरमे ममता क्यो होगी ? और इसी कारण कायोत्सर्ग करनेमे रच भी सकोच नही होता। शरीरमे ममता का त्याग करनेका नाम है कायोत्सर्ग। शरीरमे प्रीति न रहे, ऐसी ज्ञानभावना करता हुआ रहे तो वह कहलाता है कायोत्सर्ग। (६) वेदनाप्रभव सो ऐसे आभ्यतर तपोके जो तपस्वी है, शुद्ध तपश्चरण करते हैं ऐसे पुरुषोमे भी जो लोग दोष लगाते है वे पुरुष स्वय भ्रष्ट हैं और अपनी भ्रष्टता छिपानेके लिए, अपनी उच्चता जाहिर करनेके लिए वे ऐसे तपस्वी जनोमे भी दोष लगाया करते हैं।

(३९) **आवश्यक नियमोके पालनहार संतोमे दोष लगानेवालोकी भ्रष्टता**— जो साधु अपने आवश्यक नियमोका भली भांति पालन करते हैं। जैसे गृहस्थोके ६ आवश्यक हैं, रोज रोज जरूरी ही करनेके काम हैं— (१) देवपूजा, (२) गुरूपासना, (३) स्वाध्याय, (४) सयम, (५) तप और (६) दान, ऐसे ही साधुवोके भी ६ आवश्यक हैं—(१) समता (२) वदना (३) स्तुति (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग और (६)

स्वाध्याय। साधुजन अपने ६ आवश्यकोंमे बड़े सावधान है। समयपर जो आवश्यक किए जाने चाहिए, बराबर चल रहे हैं, प्रमाद नही है, ऐसे वे नियमके पक्के है तिस पर भी जो लोग उनमे दोष निकालें, उनमे दोष बताये वे स्वय भ्रष्ट है और अपना अभिमान जतानेके लिए वे दोष लगाया करते हैं, ऐसे ही जो साधु योगका सही पालन करते हैं, समाधिमे रहते हैं, ध्यानमे रहते हैं, वर्षाकालमे जो चर्या करना चाहिए वही चर्या करते है ऐसे बडे योगके पालनहार पुरुष अभिवदनीय हैं। शीत कालमे जगलमे रहना, नदीके तटमे रहना। कही भी हैं, उससे विचलित नही होते और ज्ञानस्वभावकी आराधनामे बराबर लगे हुए हैं। गर्मीके दिनोंमे खुली जगह पडे पहाड पर भी बैठे अपना ध्यान बना रहे, तो ऐसी जो योगकी धारा है उन साधुवोमे भी जो लोग दोष लगाते हैं वे स्वयं भ्रष्ट हैं और अपने अभिमानवश उनमे दोष लगाते है। इस प्रकार मूल गुण, उत्तर गुणके जो धारणहार है, साधुवोके मूल गुण हैं २८ और उत्तर गुण है अनेक। मूल गुणमे भी जो साव-धान हैं और उत्तर गुणोंका जो पालन करते हैं ऐसे साधु-जनोमे जो लोग दोष लगाया करते है वे लोग स्वय भ्रष्ट हैं। और जान बूझकर दोष लगाते हैं अपने अभिमानवश और अपनी उच्चता बतानेके लिए। तो ऐसे दोष कहने वाले भ्रष्ट पुरुष स्वय अपने आपको पतित करते है और संसारमे परि-

भ्रमण करते रहते हैं।

जह मूलम्मि विगाट्ठे दुमस्स परिवार गात्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥१०॥

(४०) **जिनदर्शनभ्रष्ट पुरुषोंके सिद्धिका अभाव**--जैसे वृक्ष की जड नष्ट हो जाय तो शाखा, पत्र, फूल आदिककी वृद्धि नही होती उसी तरह जो जिनदर्शनसे भृष्ट हैं याने जिनेन्द्र शासनसे जो भृष्ट है वे मूलसे विनष्ट है वे सिद्धिको प्राप्त नही होते। सम्यग्दर्शनसे जो रहित हैं वे मोक्षमार्गी नही हैं, यह बात तो स्पष्ट है मगर भृष्टोसे भृष्ट कौन है उसकी बात यहाँ चल रही है। जो व्यवहारमे भी भृष्ट हैं वे भृष्टसे भी भृष्ट कहलाते हैं। एक साधु व्यवहार व्रतोका तो भली भांति पालन कर रहा है, महाव्रत, समिति, गुप्ति तप सबका विधिवत् पालन कर रहा है मगर सम्यग्दर्शन नही है तो उसको कहते हैं भृष्ट। मोक्ष मार्गसे वह भृष्ट है। भले ही वह तपश्चरण कर रहा, व्रत पालन कर रहा मगर सम्यग्दर्शन नही है इस कारण भ्रष्ट है। और जिसके सम्यग्दर्शन नही और बाहरी आचरण भी ठीक नही, व्यवहार धर्मसे भी गिरा हुआ है वह तो भ्रष्टसे भी भ्रष्ट कह-लाता है। उसकी चर्या कह रहे हैं कि वह पुरुष मूलसे ही नष्ट है, उनको मोक्षफलकी सिद्धि नही होती। जैसे पेडकी जड कट जाय, नष्ट हो जाय तो अब फूल, पत्र, पौधा आदिक ये नही ठहर सकते, क्योकि उन फूल, पत्र, शाखाओंकी तो आहार,

खुराक, पुष्टि जडसे मिलती थी। जब जड़ ही न रही तो फिर शाखा, फूल, फल आदिकमे वृद्धि नही हो सकती। वृक्षकी जड़ नीचे रहती है और मनुष्यकी जड़ ऊपर रहती है। यह मनुष्य जब शीर्षासन करता है उस समय वह सीधा वृक्ष है, नीचे जड है और ऊपर शाखायें है हाथ पैरकी। वृक्ष जड़से भोजन करते हैं तो यह मनुष्य भी जड़से ही भोजन करता है। यदि मनुष्य की जड खतम हो जाय याने सिरभग हो जाय तो फिर उसके पैर आदिककी वृद्धि नही हो सकती, ऐसे ही पेड़की जड़ खतम हो जाय तो उसके शाखा, फूल, पत्र, ये बृद्धिको प्राप्त नही हो सकते। इसी प्रकार जो जिन दर्शनसे भ्रष्ट हैं, भगवान जिनेन्द्र का जो मत है उस मतसे जो बहिर्भूत है, उनके व्यवहार सम्यक्त्व भी नही, व्यवहार चारित्र भी नही और अपनेको साधुपना जतायें, नग्न दिगम्बर भेष धारण है, पिछी कमण्डल धारण है अथवा और समितियोका पालन है, यह तो सब व्यवहार धर्मकी रक्षा है। जिसके यह व्यवहार धर्म भी नही, ७ तत्त्व, ६ द्रव्य, ९ पदार्थ जो मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत है उनका यथार्थ श्रद्धान नही, वह कहलाता है जिनदर्शनसे भ्रष्ट तो जो जीव जिनदर्शनसे भ्रष्ट हैं वे कभी सिद्धिको प्राप्त नही हो सकते।

(४१) मूलगुणविहीन गृहस्थोके धर्मपालनकी अपात्रता—श्रावकोके ८ मूल गुण बताये गए और उन ८ मूल गुणोमे भी निम्न श्रेणीके ८ मूल गुण मद्य मांस मधुका त्याग और पंच

उदम्बर फलोका त्याग। ये निम्नसे निम्न श्रेणीके ८ मूल गुण हैं, इनका ही जिनके पालन नही है वे मनुष्य तो मूलसे विनष्ट हैं, वे कुछ भी धर्मप्रवृत्ति नही कर सकते। अब इन आठोमें देखो तो मधुके त्यागकी बात। उच्च कुलमे उत्पन्न हुए भी अनेक लोग ऐसे मिलेंगे कि कटोरीमे शहद रखकर उसका भक्षण करते होंगे। मदिरा पान करने वाले भी बहुत मिलेंगे। और, किसी न किसी प्रकार लुक छिपकर या अडेको सब्जी बताकर, कोई बहाना कर मासका सेवन करने वाले भी बहुत मिलेंगे, तो उन का उच्च कुलमे जन्म लेनेका कुछ अर्थ ही न रहा, क्योंकि मद्य, मांस, मधुका सेवन करने वालेके हृदयमे आत्मदृष्टिकी योग्यता ही नही रहती। इससे जिनदर्शनमे सर्वप्रथम अष्ट मूलगुण बताये गए। और, ये निम्न श्रेणीके है। इन्हीका कोई पालन कर ले तो वह धर्मधारणका पात्र तो है कमसे कम। और, अगर निरतिचार अष्ट मूल गुणोको पाले तो उसकी और भी विशेष प्रगति है। तो जो जिनदर्शनसे भ्रष्ट है वह मूलसे ही विनष्ट है, ऐसे जीव मुक्तिको प्राप्त नही करते।

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥११॥

(४२) **जिनदर्शनकी मोक्षमार्गमूलता**—जैसे वृक्षकी जडसे स्कंध, फूल, पत्र, फल वगैरह बहुगुण हो जाते हैं, हरे रहें, सुन्दर लगें, अनेक गुण जैसे उन शाखा, पत्र आदिकमे हो गए ऐसे ही

जिनके जिनदर्शन है मूल है, श्रद्धा है उनके तो मोक्ष मार्गका बहुत गुण उत्पन्न हो सकता है। सम्यग्दर्शन है या नही, या सम्यग्दर्शनको पैदा करें, ऐसा कोई कमर कसकर विकल्प करे तो ऐसे सम्यग्दर्शन तो जब होगा तब सहज होगा, आपके विकल्पपोरुषसे सम्यग्दर्शन न होगा। जान बूझकर विकल्प पौरुष से इतना तो कर सकते हैं कि सम्यक्त्व पैदा हो सके ऐसा अपना वातावरण तैयार कर सकते है। तो जो लोग ऐसे वातावरणको भी नही चाहते हैं उनको सम्यक्त्वका अवकाश हो क्या है ? इस लोकमे सबसे कम जीव मनुष्यगतिमे हैं, और मनुष्य गतिमे भी दो तरहके मनुष्य होते है, (१) पर्याप्त मनुष्य (२) लब्ध पर्याप्त मनुष्य। इन दोनोमे भी पर्याप्त मनुष्योकी संख्या अत्यन्त कम है। लब्ध पर्याप्त मनुष्य असंख्यात है, पर मनुष्य गतिमे जितने जीव है उनसे कई गुने जीव नरक गतिमे पायें जाते हैं। नरकगतिके जीवोसे कई गुने जीव देवगतिमे मिलेंगे। देवगतिके जीवोसे कई गुने जीव त्रस कायमे मिलेंगे याने मनुष्य नारकी और देव ये तो त्रस कायमे है ही, पर इनके अतिरिक्त तिर्यंच भी आ गए, और त्रस कायसे कई गुने जीव निगोदको छोडकर बाकी सब एकेन्द्रियमे मिलेंगे। तो यहाँ तक जितने जीव जुडें याने निगोदको छोडकर बाकी जितने भी संसारी जीव है उनसे अनन्त गुने सिद्ध भगवान हैं और सिद्ध भगवान से अनन्त गुने निगोदिया जीव है, सिद्ध भगवान इतने अनन्त

होकर भी एक निगोद शरीरमे जितने अनन्त निगोदिया जीव हैं उनसे भी कम हैं। तो लोकमे अनन्तानन्त जीव मिथ्यात्व से भ्रष्ट हैं, जिन दर्शनसे वाह्य है। अहिंसाका जिन्होने आदर किया है, आत्मस्वरूपकी जिन्होने उपासना की है, वीतराग निर्दोष सर्वज्ञदेवको ही जहाँ आराधना बतायी गई है ऐसे धर्म का प्रायोगिक अपनायत विरले ही किसी अच्छे होनहार वाले पुरुषके हो सकती है। तो जो अन्य जीव हैं, जिनका होनहार भला नही है, जो मिथ्यात्वमे पडे हैं, ऐसे अनेक जीव हैं, उनसे लोगोका बुरा नही हो रहा, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि कितने ही जीव हैं उनसे हमारा क्या बिगाड है ? जैसे हैं सो हैं। बिगाड तो किसी दूसरेके कारण होता ही नही, मगर सगतिकी बात कह रहे हैं कि जो मनुष्य अपनेको साधु तो जताये और वह जिनदर्शनसे भ्रष्ट है, व्यवहारसम्यक्त्व, व्यवहारज्ञान, व्यवहारचारित्र भी नही है और अपनेको साधुपना जताते हैं ऐसे पुरुषोकी संगति जो करता है वह भी भ्रष्ट हो जाता है। तो जो आतमकल्याण चाहने वाला पुरुष है उसको इतना तो पौरुष करना ही चाहिए कि जिस पदको वह सम्हाल सकता है उस पदके योग्य व्यवहार निर्दोष होना चाहिए।

(४३) जिनदर्शनकी रक्षामे बहुगुण मोक्षमार्गकी

प्रगति—निश्चयसम्यक्त्व है या नही, इसकी कोई क्या परख करे। व्यवहार सम्यक्त्व, व्यवहार ज्ञान, व्यवहार आचरण तो उसका भला होना ही चाहिए। यदि वह व्यावहारिक जिनदर्शनसे भ्रष्ट है तो वह मूलसे विनष्ट है, उसको मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती। ऐसा जान करके जब जिनदर्शन बिल्कुल सिद्ध नही है तो जिनदर्शनका याने अपने व्यावहारिक आचरणका भले प्रकार सावधानीसे पालन करना चाहिए। जैसे कि यदि वृक्षकी जडोसे खाद पानी आदिक जो उसके आहार योग्य वस्तुवें है यदि वे मिलती रहे तो उसकी शाखायें, फूल, पत्र आदिक ये सब खूब हरे भरे बहुगुणित रहेंगे। कितने ही फल उसमे आ जायेंगे, ऐसे ही जो पुरुष मोक्ष मार्गकी जड हरी भरी बनाये प्राथमिक बातको पुष्ट बनाये, व्यावहारिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र इनका भली भाँति पालन करें तो उनका मोक्षमार्ग बहुगुणा वाला होकर फलेगा।

(४४) **मुनियोंके महाव्रत, समिति व आवश्यकोका पालन**—साधुवोके मोक्षमार्गका व्यावहारिक मूल क्या है? २८ मूल गुण, ५ महाव्रत याने ५ प्रकारके सर्वथा त्याग। किसी भी जीवके कभी भी किसी भी परिस्थितिमे हिंसा न करना, मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनासे हिंसाका त्याग, इस तरह नवकोटिके झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहका त्याग, जब कभी प्रवृत्ति करनी पडे तो देखभालकर चलना, बोलना पड़े

तो हित मित प्रिय वचन बोलना, कोई वस्तु धरना उठाना पडे याने ज्ञान संयम और शुद्धिके उपकरण उठाने धरने पडें तो निर्जन्तु स्थानमे देख-भालकर धरना, कही मल मूत्रादि करने पडें तो निर्जन्तु प्रासुप भूमिमे करना, ऐसा समितियोका पालन और समय-समयपर मन, वचन, कायको एकदम रोकता है। कोई संकल्प न हो, कोई अन्तर्जल्प न हो, कुछ भी शरीरकी चेष्टायें न हो, ऐसा संयमनका पालन करता है। छह आवश्यक जो मुनि जनोके बताये गए हैं—(१) समता रखना, (२) प्रभु वंदना करना, (३) जिनेन्द्र भगवानकी स्तुति करना, (४) प्रतिक्रमण करना, (५) स्वाध्याय करना और (६) कायोत्सर्ग करना। इन छ प्रकारके आवश्यकोका पालन, इन्द्रिय, मन को वशमे रखना।

(४५) साधुवोके स्नानत्याग, भूमिशयन व वस्त्रत्यागका मूल गुण—साधु जनोके स्नानका त्याग होता है। यह साधु जनोकी बात कही जा रही है, स्नान करें तो इसमे हिंसा है। पानी बिखरेगा, बहुत दूर तक जायगा, किसी भी जीवको बाधा हो सकती है, गर्म जलसे स्नान किया तो जमीनपर पडे हुए कितने ही जीवोको बाधा होगी। ठडे जलसे नहाना तो उन्हे उचित नही, क्योकि वह प्रासुप नही। इससे साधु जन स्नान नही किया करते। वे जानते हैं कि आत्माकी पवित्रता तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे है, देहकी शुद्धिसे

नही है । जैसे कोयलेको कितना ही धोया जाय, पर वह अपनी कालिमाको नही छोडता, ऐसे ही इस देहको कितना ही धोया जाय पर वह अपनी अपवित्रताको नही छोडता । यही सोचकर साधु जन स्नान नही किया करते । उनका वस्त्रादिक का त्याग होता है । जिन्होने आत्माके सहज स्वभावमे मग्न होनेकी ठान ली है वे कोई भी कार्य ऐसा न करेंगे, कोई भी चीज ऐसी न रखेंगे कि जिसका विकल्प करना पडे । इस आत्मस्वभावके उपासकोकी इतनी तेज धुन है कि वे इतना भी विकल्प नही सह सकते कि ये सब ख्याल करने पडें कि मेरा चद्दर कहाँ धरा है, मेरी लगोटी गीली हो जायगी । अगर फट गया तो खुद सीवें तो आरम्भ और दूसरोसे सिलावें अथवा मांगे तो दोष । अगर मनमे यह कल्पना करें कि मुझे मिलना चाहिए तो यह दोष है । ये सारे विकल्प परमेष्ठी पदसे बाह्य हैं । साधु तो परमेष्ठी कहलाते है । अगर गृहस्थोकी भाँति वस्त्र विषयक विकल्प रहे तो वहाँ परमेष्ठीपना नही होता । आत्मस्वरूपकी साधनाके ऐसे तेज धुनिया है साधु परमेष्ठी कि वे रच भी विकल्प नही करते । तो वस्त्रादिकका त्याग कर निर्ग्रन्थ होते । अब जो शरीर है उसे कहाँ डालें ? यदि शरीर भी छोडकर कही रखा जाता होता तो साधु पुरुष तो इतने विरक्त होते कि इस शरीरको भी अलग कर देते, पर ऐसा तो अशक्य है, और कोई ऐसा भी भावुक बने कि असमयमे ही

अपना मरण कर ले तो उसके सक्लेशके कारण वह दुर्गतिमे जायगा या कुछ भी हो, और देवगतिमे भी गया तो भी लाभ क्या ? मनुष्यभवमे रहकर तो सयमका पालन कर सकता था। वहाँ देवगतिमे तो सयम भी नही। तो साधु पुरुष इतना विरक्त हैं कि यदि सम्भव हो सकता कि शरीरको भी अलग धर दें, एक अकेले आत्मा ही रहें तो ऐसा कर लेना वे बहुत ही पसद करते, पर यह तो अशक्य है। तो आत्मस्वभावका उपासक साधु पुरुष वस्त्रका त्याग रखता है, उसके दिगम्बर मुद्रा होती है।

(४६) **साधुवोंके केशलोञ्चका मूल गुण**—साधु केशलुञ्च करते हैं। केश लुञ्च करनेके अनेक कारण है। प्रथम कारण तो यही है कि बाल बनवायें तो उन्हें पैसे देने पडेगे और पैसे उनके पास हैं नही, यदि वह किसी दूसरेसे पैसे दिलवायेंगे तो उसका बहुत कुछ उन्हे ऐहसान मानना पडेगा। केशलुञ्च करनेसे ब्रह्मचर्यकी भी साधना बढती है, क्योकि बढिया-बढिया बाल कटवाना यह तो एक शृङ्गार माना गया है। जब केशलुञ्च हो जायगा तो बाल भी तितर बितरसे रहेगे, कोई बडा बाल रहा कोई छोटा रहा। वह साज शृङ्गारसे अत्यन्त दूर है, यह भी एक तप है। उसे देहमे ममता नही रही, इसकी वह एक परीक्षा है। और बाल बढ़ाकर रहना जैनशासनमे बताया नही है। हाँ ऋषभ-

देव या बाहुबलि स्वामीकी तरह खडे हुए कई वर्षों तक तप कर रहे और ध्यानमे मग्न हैं और उनके बाल बहुत बढ़ गए तो यह कोई दोषकी बात नही है. अगर व्यवहारमे चल रहे हैं और वहाँ बाल बढाकर रहे तो उन बालोको संभालना भी पडेगा। उनमे जीव भी उत्पन्न होगे। तब तो फिर कंघा भी चाहिए। कुछ और संभालना हो तो चुटिया भी बांधेगा तो जैसे कुछ सुनते हैं कि अनेक संन्यासी जो बहुत बाल वाले होते हैं और गंगा जी मे स्नान किया तो छोटी-छोटी मछ-लियाँ भी उनके बालोमे फंस सकती है। तो बाल रखना जैनशासनसे बाहरकी बात है। तीन माहसे अधिक बाल रखानेका जैनशासनमे निषेध है। दो, तीन या चार माहके अन्दर केशलुञ्च करना पडेगा। कोई अगर समर्थ न हो तो चार माहमें केशलुञ्च कर ले। कोई यदि समर्थ है तो दो माहमे केशलुञ्च करे, वह उत्कृष्ट केशलुञ्च हुआ, कोई तीन माहमे केशलुञ्च करे तो वह मध्यम केशलुञ्च हुआ और कोई चार माहमे केशलुञ्च करे तो वह जघन्यकेशलुञ्च हुआ।

(४७) **साधुके दिनमें एक बार लघु भोजन, दन्त-धावनत्याग, संस्थिताहारका मूल गुण**—एक बार साधु जन भोजन करते हैं, क्योकि भोजन करनेका प्रयोजन क्या है कि शरीरमे प्राण टिके रहे और मैं सयमसहित साधना करूँ। एक बारसे अधिक भोजन करना यह रागका चिन्ह है, उसे

देहसे ममता है विशेष इसलिए वह २–३ अथवा ४ बार खाता है। खाने का उद्देश्य है जीवन बनाये रहना, और उसकी सिद्धि एक बारके भोजनसे ही होती है। यदि भोजन किए बिना यह जीवन बना रहता संयम धारणके लिए तो वे साधु भोजन करते ही नही और उन्हे बताया है खडे खडे भोजन करना। खडे होकर भोजन करनेका प्रयोजन यह है कि साधुने अपने मनमे यह ठान रखा है कि जब तक मेरे देह मे बल है तब तक मैं आहार करूँगा और जब यह देह उत्तर दे देगा तबसे आहारका त्याग करके मैं समाधि ले लूँगा। तो यह परीक्षा कैसे हो कि देह इस लायक है कि वह आहार करता रहे, उसकी परीक्षा है खडे होकर भोजन करना जब खड़े होनेकी दम (हिम्मत) न रही तो समझ लिया कि अब यह नौकर देह मेरेसे बिल्कुल विपरीत हो गया है। उसका अब त्याग कर देना चाहिए। सो आहारका त्याग करके वह समाधिमरण कर लेता है। यदि खडे खडे आहार लेनेकी बात न रहे, बैठे बैठे भी खाते। पडे पडे भी खाते तो मरण समय तक भी खाने खानेकी मंसा बनी रह सकती है और खड़े खडे भोजन करने वालेके मनमे पहलेसे ही यह बात ठनी हुई है कि जब तक यह देह सेवक मेरी संयम साधनाके लिए सहयोग दे रहा तब तक इसके लिए खुराक है और जब यह ही मुख फेरने लगा तो मैं भी इससे मुख फेरने लगा, ऐसा

उस साधुने ठाना है, सो साधुजन खड़े होकर भोजन करते हैं। दांतोको सफेद मोतीकी तरह उज्ज्वल रखने के लिए कोई दातून करें या बड़े तेज जो मसाले आते उनका मजन करें, यह साधुजनोके नही होता। हाँ दांतोमे कोई अन्य कण लग रहे हो तो वे दोषके लिए हैं, उनको निकालनेके लिए साधु अगुलियोसे कुल्ला कर सकता है, पर श्रृङ्गार जैसी बात वह दांतोमे न करेगा, ऐसे ये साधुवोके मूल गुण हैं, जो इन मूल गुणोंसे भी भ्रष्ट हैं, जिनके व्यवहार आचरण भी नही है उनके तो सिद्धि नही बनती, पर जिनका व्यवहार आचरण सही है उनको मोक्ष मार्गकी प्राप्ति होती है। इससे सम्यक्त्व हुआ या नही हुआ इस विषयमे तो विवाद न करना मगर मूलमे जैसा कि तीर्थ आचरण है, ज्ञान, सम्यक्त्व आचरण, उस प्रकार से आचरण रखे तो उसे कहते हैं कि यह जिनदर्शनसे भ्रष्ट नही हुआ। जिनेन्द्र भगवानने जो उपदेश बताया है उनके अनुसार अपना जीवन बनाये तो वह मोक्ष मार्गको प्राप्त कर सकेगा।

जे दसणेसु भट्ठा पाए पाडति दसणधराण।
ते होति लल्लभूआ बोही पुण दुल्लहा तेसि ॥१२॥

(४८) सम्यक्त्वधारीजनोंसे अपने पैर पडाने वाले दर्शन-भ्रष्ट जनोंकी दुर्दशा—जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है और वे सम्यग्दृष्टियोसे अपने पैर पड़ाते है, नमस्कार कराते हैं वे पर भवमे लूले, लगड़े, गूगे होते हैं। उनके रत्नत्रयकी प्राप्ति तो

बहुत ही दुर्लभ है। इसमे विशेपकर साधुवोको सकेत है। जो साधुका भेष रखकर स्वय तो सम्यक्त्वसे रहित हैं लेकिन चाह ऐसी लगी है कि पडित लोग, जानकार लोग, श्रावकजन ये सभी लोग मेरेको नमस्कार करें, मेरे पैर पड़ें, और ऐसी हो वे कोशिश भी करते हैं। न नमस्कार करे कोई तो उसको लोगोसे चर्चा भी करते हैं, बुलवाते भी हैं। तो ऐसे अज्ञानी साधु जो सम्यक्त्वसे तो रहित हैं और ज्ञानी जनोसे नमस्कार करानेकी इच्छा रखते हैं वे परभवमे लगडे लूले तथा गू गे होते हैं। पैर पडनेकी बात तो दूर रहो, अगर मनमे यह भी जगे कि ये ज्ञानी पुरुप, ये पडित जन, ये व्रती लोग, ये अमुक लोग मेरेको नमस्कार करें तो वे परभवमे लूले लगडे तथा गू गे होते हैं। यह एक बडा अपराध है कि स्वय तो अज्ञानी हैं, आत्मा का परिचय नही और दूसरोसे नमस्कारकी चाह रखें, अब इस सम्बधमे एक जिज्ञासा हो सकती कि सम्यक्त्वका क्या पता, है या नही। तो इसमे दोनो बातें आती हैं। जिस साधुके सम्यक्त्व नहीं है और वह दूसरोसे पैर छुवानेकी इच्छा करता है तो वह अपराध है, वह परभवमे लूला लंगडा तथा गूंगा होगा और जो पुरुष सम्यग्दृष्टि है उसके तो ऐसी भावना ही नही होती कि कोई मेरेको नमस्कार करे। जिसको पैर छुवाने की इच्छा हो समझ लो कि वह अज्ञानी है और अज्ञानी पुरुष ज्ञानी जनोसे अपना विनय कराये तो उसके फलमे उसको

दुर्गति ही है । ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि साधुवोको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है । स्वयं अज्ञानी होकर, मिथ्यादृष्टि होकर सम्यग्दृष्टिसे नमस्कार चाहे तो समझो कि उसके तीव्र मिथ्यात्वका उदय है । मिथ्यादृष्टि गृहस्थ भी होते किन्तु उनमे उद्दण्डता नही होती, वे जैसे हैं सो हैं मगर मिथ्यादृष्टि साधुवोंमे उद्दण्डता होती है । वह साधु बनकर ऐसा सोचता है कि मैं प्रभु हो गया हू, अब सब मेरे भक्त हैं, मेरे आधीन हैं, इन पर मेरी हुकूमत है, उनके उद्दण्डता है और तीव्र मिथ्यात्व है । और कोई ज्ञानी साधु है तो वह चाहेगा ही नही । उसकी कोई लोग प्रशसा करें, निंदा करें दोनो पर उनकी समान बुद्धि रहती है । उसका तो कोई प्रश्न ही नही है, मगर जिसके मनमे ऐसा भाव उठता है कि ये लोग मुझे नमस्कार करें, ऐसी चेष्टायें करता है या दूसरोसे चर्चा करता है कि वह हमको नमस्कार नही करता, आदिक भाव जिसके जगते हैं वह सम्यग्दृष्टि नही, ज्ञानी नही । अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को इस गाथामे यह सदेश दिया गया है कि हे साधुजनो तुम अपने कर्तव्यमे रहो, ऊल जलूल फाल्तू बातोका विकल्प मत करो । आत्माका ध्यान, आत्माकी उपासना, आत्माका उपदेश, आत्माकी चर्चासे आत्मनिर्मलता प्राप्त करो ।

जे वि पडति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाण ॥१३॥

(४९) अज्ञानी आत्माचारहीन जनोके पैर पड़ने वाले ज्ञानियोको पापानुमोदन होनेसे बोधिका अलाभ—जो पुरुष सम्यग्दृष्टि हैं वे यदि जानकर कि यह साधु अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, अनाचारी है फिर भी लज्जाकी वजहसे, सकोचकी वजहसे, या किसी डरसे उसके पैर पडते हैं तो वे भी बोधिको प्राप्त नही कर सकते। ज्ञानी पुरुष अभिमानरहित है विवेकरहित नही है। कोई साधु अज्ञानी है, अनाचारी है, मिथ्यादृष्टि है और फिर भी कोई उसके पैर पडे, उसको नमस्कार करे तो नमस्कार करने वाला श्रावक भी रत्नत्रयको प्राप्त करनेके योग्य नही है। मायने ज्ञान चारित्रको प्राप्त नही कर सकता, क्यो कि उसने पापकी अनुमोदना की। जो मिथ्यादृष्टि साधु है उसकी भक्ति करनेके मायने मिथ्यात्वकी भक्ति की, पापकी अनुमोदना की, इस कारण ज्ञानी पुरुष ऐसा निर्भय रहता है कि उसको अपने सही कर्तव्यके करनेमे और अकर्तव्यसे दूर रहनेमे लोगोको सकोच नही, भय नही, लज्जा नही और किसी प्रकार का स्वार्थ नही। अब सही बातका तो पता क्या पडे कि उस साधुके सम्यक्त्व है या नही, मगर उसकी चेष्टाओसे, उसकी प्रवृत्तिसे, उसके बोल चालसे यह जच जाय कि यह अज्ञानी है, तो जचनेके बाद फिर उसको ज्ञानीपुरुष नमस्कार नही करता। तो उस स्थलमे ये दोनो बातें कही गई हैं कि अगर कोई साधु त्यागी स्वय अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है और वह ऐसी चाह रखे

कि ये ज्ञानीजन, ये पडित लोग, ये समझदार लोग मेरेको नमस्कार करें, मेरे पैर पडें तो ऐसा साधु ब्रती त्यागी जो अज्ञानी है और उद्दण्डताका भाव रख रहा है वह मरकर परभवमे लूला, लगडा और गूंगा होता है। और, जो खुद श्रावक गृहस्थ सम्यग्दृष्टि है और वह जान रहा है कि अमुक त्यागी साधु मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, उसके आचरणको देखकर, उसकी प्रवृत्तिको देखकर यह पक्का निर्णय बन गया है और फिर भी उसके पैर पडे तो उस श्रावकको भी चरित्रका लाभ नही हो सकता। दूषण आता है, क्योकि उस ज्ञानी गृहस्थने पापकी अनुमोदना की। मिथ्यात्व तो महा पाप है। मिथ्यात्व न रहे और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशल, परिग्रह, ये कोई पाप कदाचित् लगें तो उनका तो प्रायश्चित्त हो जायगा, उनकी तो निवृत्ति हो सकेगी मगर मिथ्यात्व लगा है तो वह बाह्यमे ब्रत तप आदिक भी पा ले तो भी वह पापरहित नही हो पाता, क्योकि मिथ्यात्व नामक महा पाप उसके पड़ा हुआ है।

(५०) **लज्जावश दर्शन भ्रष्टोकी बंदनासे पापानुमोदन होनेसे ज्ञानियोको भी बोधिका अलाभ**—कोई ज्ञानी पुरुष किसी अज्ञानी साधुके जानकर भी पैर पड़े कि यह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, अपात्र है, अयोग्य है, जैनशासनमे कलक लगाने वाला है और फिर भी उनकी भक्ति या नमस्कार करे तो उसमे कारण क्या होता है ? लज्जा, गौरव और भय। लज्जा क्या

है ? समाजकी लज्जा, ये लोग मेरेको नाम न धरें, ऐसी लज्जा। कहीं ये लोग यह बडा अभिमानी है, यह अमुक साधु आये हैं और उनकी भक्तिमे मैं नही जा रहा इस प्रकारकी लज्जा। तो उस लज्जाके मारे इतना निर्बल हो गया ज्ञानी होकर भी वह साधु व गृहस्थ कि उसका तो यह भाव बन गया कि कोई भी साधु आवो, हमे तो सबका विनय रखना है। सबको एक समान समझकर रहना है, तो उसने लज्जावश होकर सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट पुरुषका विनय किया, और मिथ्यादृष्टिके विनय करनेके मायने है मिथ्यात्वका अनुमोदन किया जिससे मिथ्यात्व को और बढवा मिला।

(५१) **भयवश दर्शनभ्रष्टोके बदनमें पापानुमोदन होनेसे ज्ञानियोको भी बोधिका अलाभ**—ज्ञानी गृहस्थ अज्ञानी साधु त्यागीका विनय नमस्कार करता है जान समझ कर भी तो उसमे एक कारण भय होता है। यह राज्यमान्य साधु है, इस की राजा भी मान्यता करता है। इसका हम विनय न करेंगे तो यह हमारे ऊपर कोई उपद्रव करा देगा या इसमे मत्र जादू विद्या वगैरह बने हुए हैं। हम इसका विनय न करेंगे तो यह कोई उपद्रव करेगा मेरे पर, ऐसा भय जब बन जाता है तो इस कमजोरीके कारण ज्ञानी गृहस्थ भी कदाचित् अज्ञानी मिथ्यादृष्टि किसी भेषधारीका विनय करने लगता है। अच्छा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि श्रावक किसी अज्ञानी साधु भेषीको जानबूझ-

कर कि यह अयोग्य है, अपात्र है, फिर भी विनय करता है तो उसमे एक कारण है गारव । गारव तीन प्रकारके होते है— (१) रसगारव (२) ऋद्धिगारव और (३) सातगारव । इस प्रकरणमे यह बात जानना कि केवल श्रावकको ही कहा जा रहा है कि ज्ञानी श्रावक अज्ञानी साधुवोका विनय करे तो उस के लिए भी है, साधुके लिए भी है । कोई ज्ञानी साधु, सम्यग्दृष्टि साधु जानकर भी अज्ञानी पापिष्ट साधुका विनय करे तो उसके लिए भी यह अपराध है । तो भय और लज्जासे विनय किया यह बात बतायी ।

(५२) **गारववश दर्शनभ्रष्ट पुरुषोंके विनयमें पापानुमोदन होनेसे ज्ञानियोको भी बोधिका अलाभ**—अब कोई गारवसे भी दर्शनभ्रष्टोका विनय करते है यह वात बतला रहे है । गारव तीन तरहके होते हैं– (१) रसगारव–जिसे इष्ट भोजन मिलता रहता हो, जिसके बारेमे श्रावकोका बहुत आकर्षण हो ऐसा रस गारव करके जो मोक्षमार्गमे प्रमाद करता हो ऐसा पुरुष कभी-कभी अपना होनहार न सोचकर अज्ञानीकी कभी विनय भक्ति करे या वह दूसरा अज्ञानी साधु भेषी, वह श्रावको द्वारा ज्यादह मान्य हो गया हो तो उस ससर्गसे उसकी विनय करे, ज्ञानी अज्ञानीको विनय करे उसमे एक कारण यह रसगारव भी होता है । (२) गारवमे दूसरा कारण ऋद्धिगारव है—मैं तपश्चरणके प्रभावसे ऋद्धिको प्राप्त हो गया हूं । तो ऋद्धि

मिलनेसे भी एक गर्व हो जाता है। गारव गर्वसे होने वाले भावको कहते हैं। उस गारवके कारण वह उद्धत और प्रमादी रहता है। जैसे जिसको ऐश्वर्य या सपदा प्राप्त हो जाती है उसे अभिमान प्रकृत्या ही आ जाता है ऐसे ही जिन साधुवोको ऋद्धि प्राप्त हो जाती है उनको भी एक प्रकारका गर्व हो जाता है, जिसे रस गारव कहते है। इस रसगारव के कारण भी अज्ञानी जनोका विनय ज्ञानीजन कर सकते हैं। (३) सातगारव—शरीर निरोग हो, बहुत आरामसे रहता हो, दुःख कभी आता न हो, क्लेशका कारण न बने, सुखियापना भी आये तो उसमे मग्न रहे उसे कहते हैं सातगारव। तो सातगारवके वातावरणमे वह अपनी धुनमे मस्त रहता है तो वह मोक्षमार्ग मे प्रमादी हो जाता है। इस सातगारवके कारण भी ज्ञानी अज्ञानीका, मिथ्यादृष्टिका विनय कर लेता है। तो इन किन्ही कारणोंसे मिथ्यादृष्टि यदि जान-बूझकर भी कि यह मिथ्यादृष्टि है, पापिष्ट है फिर भी साधुभेष आदिकके कारण उसे नमस्कार करे तो यह पापमे अनुमोदना कहलाती है। किसी अज्ञानीको, अयोग्य पुरुषको मिथ्यादृष्टिको धर्मके नाते एक बढ़ावा देना इसे भी पापमे अनुमोदना कहते हैं। तो इसमे मिथ्यात्वकी चूकि अनुमोदना आयी, मिथ्यात्वसहितको भला माना तो उसे अब बोधिलाभ नही हो पाता।

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि ।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई ॥ १४ ॥

(५३) सपरिग्रह असंयमी साधकाभासोमें जिनदर्शनके दर्शनका अभाव—अब इस गाथामे बतलाते हैं कि दर्शनके योग्य कौन है अथवा सम्यग्दर्शन किसके पाया जाता है, ऐसे साधुवोका कुछ परिचय है क्या ? उसीका यहाँ समाधान दिया है, अथवा जिनदर्शन कहाँ देखनेको मिलेगा ? जिनेन्द्रदेवने जो संसारसे छूटनेका मार्ग बताया है उस मार्गका दर्शन कहाँ मिलेगा उसका समाधान इस गाथामे किया है । जहाँ अंतरङ्ग बहिरङ्ग दोनो प्रकारके परिग्रहोका त्याग हो वहां जिनदर्शन देखनेको मिलेगा । बाह्य परिग्रह क्या ? ये खेत, धन-धान्य, मकान, सोना-चाँदी, दासी-दास आदिक सब बाह्य परिग्रह है । ये जहां बिल्कुल नही है वहां ही यह दर्शन मूर्ति मन्त बनता है । सिवाय तीन उपकरणके चौथी बात कोई रखे तो ५वी भी छठी भी रख सकता, फिर तो अनेकका भी रख सकता, फिर तो अनेकका भी बहाना बनाया जा सकता है । तीन उपकरण हैं साधुके—पिछी, कमण्डल और शास्त्र । पिछी तो संयम पालनका उपकरण है । कमण्डल शुद्धिका उपकरण है और शास्त्र ज्ञानका उपकरण है । इन तीनके अलावा और की क्या जरूरत पडी ? इन तीनके रखनेमे राग नही है, किन्तु एक वह मार्गकी बात है । मगर जैसे वस्त्र है, लोग कहते है

कि एक वस्त्र रख लो, एक तौलिया लपेट लो तो तौलिया लपेटे बिना भी ज्ञानसाधना नही होती क्या ? आज तो मानो तौलिया लपेट लिया, कल फिर चद्दर या लगोटकी जरूरत पडेगी, फिर तो अनेक कपडे हो जायेंगे। फिर तो एक परिग्रह की बात बन जायगी, उसकी फिक्र रखनी पडेगी। उसे देख कर खुश होना है, उसे सम्हालना है, फिर तो उसे और भी चीजोकी जरूरत महसूस होगी। वहा फिर जिनदर्शन मूर्तिमत नही होता।

(५४) **निर्ग्रन्थ सहजपरमात्मतत्त्वद्रष्टावोंमे जिनदर्शनका दर्शन**——केवल आत्माका ध्यान करना जहां ध्येय है, अन्य सर्व पदार्थोंसे परम वैराग्य है। वहां बाह्य परिग्रहोका त्याग होता ही है और आभ्यंतर परिग्रहोका भी उनके त्याग है। आभ्यतर परिग्रह क्या ? कषायें। कषायोका परिहार है। कषायोका विकल्प करना नही रहता। कषायको रखता भी नही, अकषाय भावका ही जिनके मनमे आशय बना है ऐसे साधु सन्तोमे जिनदर्शन मूर्तिमन होता है, कैसे सन्तजन हो जिनसे मोक्षमार्गका उपदेश मिलता है ? जो मन, वचन, काय तीनो योगोका संयम रखते है, स्वच्छन्द मन नही प्रवर्ताते, वाणी स्वच्छन्द नही निकालते, शरीरकी भी स्वच्छन्द चेष्टा नही होती ऐसे समाधि सयममे जो रहता हो वहा जिनमार्गका उपदेश मिलता है। जिनका कार्य शुद्ध हो, कृतकारित अनु-

मोदना केवल धर्म ही विषयमे हो, किसी भी पापकार्यके बारे मे कृतकारित अनुमोदना रच न हो, ज्ञाननिर्दोष हो, पाणि-पात्र आहार हो, जैसे एक वस्त्र रखना भी शल्य है, विकल्प है, चिन्ताका घर है इसी प्रकार आहार करनेके लिए एक बर्तन भी रखना, कटोरी भी रखना वह भी एक शल्य है, वह भी एक परिग्रह है। अब उसे कहाँ सम्हालें, कहाँ धरें? इसीलिए पाणिपात्र आहार साधुजन किया करते हैं। अपने ही हाथमे भोजन ग्रहण करते हैं, ऐसी यथाजात दिगम्बर मूर्ति जहाँ दयाका भाव स्पष्ट लहराता है, वहाँ ही सम्यग्दर्शन है। विकार ज्ञानमे न आये, विकारकी अनुमोदना भी न बने, ऐसी कृतकारित अनुमोदनासे जो अविकार रहता है वहां है दर्शन, सम्यग्दर्शन, जिनदर्शन।

(५५) **मन, वचन कायसे पापानुमोदनपरिहारका अनुरोध**—किसी भी पापकी अनुमोदना करना यह एक बडा अपराध है और इसी कारण ज्ञानी पुरुष पाप वाले पुरुषकी महिमा नही गाते। पापिष्ट पुरुषकी विनय भक्ति भी नही करते, क्योकि उससे पापकार्यमे अनुमोदना मिलती है। सो जिनेन्द्रदेव का यह ही मत है, यह ही मार्ग है, ऐसा ही शुद्ध वचनयोग है, वदनाके योग्य है, अन्य और पाखण्ड भेष ये वदन पूजनके योग्य नही है, फिर भी भवसे, लज्जासे, गारवसे ऐसे पाखण्डी साधुवोका विनय करे यह विनय करने वालेके लिए दोष है।

और पाखण्डी साधु ज्ञानियोसे विनय चाहे मायने किसीसे भी विनय चाहे तो यह उसके लिए दोष है। जिस साधुके सम्यक्त्व है, ज्ञान है, उसके ऐसा भाव ही नही हो सकता कि मेरे को यह विनय करे, मेरेको यह नमस्कार करे, उसके सम्बन्ध मे तो यह प्रसङ्ग घटता ही नहीं है। जो अज्ञानी साधु है चूंकि उसे पर्यायबुद्धि है, इस देहके भेषको ही अपनेको परम पदमे स्थित मान लिया है, शरीरमे उसके मोह है, शरीरके भेषको ही अपना सर्वस्व समझ रहा है। नो जिसका आत्मासे स्पर्श नहीं, आत्माकी ओर दृष्टि नही, आत्माकी चर्चा नही वह तो अन्य साधारण पुरुषोकी भाति अज्ञानी है, उसको ही यह चाह हो सकती है कि लोग मेरी विनयभक्ति करें, मेरेको पूजें, मेरी वदना करें। नो ऐसा भाव करने वाला दुर्गतिको प्राप्त होता है।

सम्मत्तादो णाण णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेय वियाणेदि ॥ १५ ॥

(५६) **सम्यक्त्वके साहचर्यसे ज्ञानकी समीचीनता**—इस गाथामे यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे ही जीवो को कल्याण और अकल्याणका निश्चय होता है, जब जीवके सम्यग्दर्शन हो तो वह ज्ञान सम्यक् होता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ ही होते हैं, मगर ज्ञानकी समीचीनता सम्यग्दर्शनके होनेसे होती है, इस कारण सम्यग्द-

सम्यग्दर्शनको कारणरूपसे कहा जाता है और सम्यग्ज्ञानको कार्यरूपसे कहा जाता है, ज्ञान तो पहले भी था और अच्छा ज्ञान, ऊँचा ज्ञान जिस ज्ञानसे सम्यग्दर्शन बने वह ज्ञान खोटा तो न होगा। किन्तु सम्यग्दर्शन बिना होनेसे खोटा कहलाता है, अर्थात् अनुभव बिना होता है। जिस ज्ञानमे अनुभव बन गया हो वह ज्ञान सम्यक् है। जैसे आपने मानो शिखरजी सिद्ध क्षेत्रके दर्शन नही किया, लोग कहते है कि पहाड बडा अच्छा है, बडी हरियाली है, और वहाँ पहले गधर्व नाला मिलता है, फिर सीता नाला मिलता है, खूब सुन रहे और कही शिखरजी का फोटो है तो फोटोमे भी देखते हैं, ज्ञान तो आपको शिखर जीके सम्बधमे ठीक हो गया, किन्तु जब कभी आप शिखरजी जाते हैं और साक्षात् देखते हैं, ऊपर चलकर नाला देखते है, तो उस समय जो शिखरजीका ज्ञान हुआ तो उस ज्ञानमे और उससे पहलेके ज्ञानमे कुछ अन्तर है कि नही ? ज्ञान तो वैसा ही है, कही उल्टा नही जाना, पहले ज्ञानसे जो जाना सो ही इस ज्ञानसे समझा किन्तु वह अनुभव बिना ज्ञान है, बिना देखे का ज्ञान है और यह देखेका ज्ञान है। तो अनुभव सहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते है और यथार्थ अनुभव बनता है सम्यग्दर्शनसे, इस कारण बताया गया है कि सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, तो सम्यग्दर्शन होनेसे सम्यग्ज्ञान हुआ

(५७) सम्यग्ज्ञानसे यथार्थ तत्त्वकी उपलब्धिएवं तत्त्वोपलब्धि

से श्रेयाश्रेयका निर्णय—सम्यग्ज्ञान होनेसे सही-सही उपलब्धि होती है अपने आत्माका ज्ञानानन्द स्वभाव स्वतन्त्र अस्तित्त्व अनुभवमे आनेपर ये सभी जीव एकदम भिन्न सत्त्व वाले हैं, यह निर्णय उसके दृढ़ बनता है। अभी तो वह कुटुम्बमे रहकर भी कुटुम्बको अपना रच मात्र नही समझता है, यह भी चीज है, ये भी कर्म बँधे हैं, उदयमे आ रहे हैं, गुजारा करने के लिए साथ रह रहे हैं पर जीव अत्यन्त भिन्न है। जिसको सम्यग्ज्ञान हुआ उसको सब पदार्थोंकी सही-सही उपलब्धि बनती है, जब सब पदार्थोंका परिचय सही बन गया, जैसा कि वे अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व लिए हैं, उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उन ही मे है, मैं उनसे अत्यन्त निराला हू, एक-एक परमाणु स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता रख रहे हैं। प्रत्येक जीव अपनी सत्तामे ही है, इसी तरह सभी पदार्थोका जब यथार्थ परिचय हुआ तब वह यह निर्णय करता है कि यह तो कल्याणकी बात है और यह अकल्याणकी बात है। मैं अपने आपके स्वरूपमे रमूं, यह तो कल्याणकी बात है और पर पदार्थोमे रमू, यह अकल्याण की बात है। यद्यपि मोटे रूपसे कल्याण और अकल्याणकी बात, थोडा पहले भी जानते थे, तब सम्यक्त्व नही हुआ, मगर अनुभव सहित ज्ञान न था, बेदान्तकी एक टीकामे उदाहरण दिया है कि कभी कभी छोटी छोटी बालिकायें भी विवाहका खेल खेलती हैं। उस खेलमे वे उन बालिकाओमे से ही किसी

को दूल्हा, किसीको दुल्हन किसीको सास व किसीको स्वसुर आदि मान लेती हैं। उनमे से किसीको बराती भी बना लेती हैं। कोई बाजा बजाने वाला भी उन्हीमे बन जाता है। वे विवाहके सम्बधके सारे खेल खेलती है, तो देखिये उनको भी विवाहके सम्बधका बहुत कुछ ज्ञान हो गया, यो बरयाश्रा श्राती है, यो विवाह होता है, मगर इतना कुछ जानकर भी जिसका विवाह हो चुका, जो घर जा चुकी उसे उस सम्बंधमे जो ज्ञान है कि यह कहलाती है गृहस्थी, इतने होते हैं यहाँ दंदफद, इन बातोका उन बेचारी छोटी छोटी बच्चियोको कुछ बोध है क्या ? उसका बोध नही है। तो उनका वह खेल श्रनुभवरहित है और जो गृहस्थीमे फँसे हैं उनका वह बोध श्रनुभवसहित है। तो जब श्रनुभवसहित पदार्थोंका ज्ञान होता है तब वे यह समझ पाते हैं कि यह कल्याण है और यह अकल्याण है। तो कल्याण और अकल्याण पहचाननेका मूल भी सम्यग्दर्शन है।

(५८) कल्याण व अकल्याणके लाभका मूल सम्यग्दर्शन— इस प्रकार इस गाथामे बताया गया है कि कल्याण और अक-ल्याणका निर्णय सम्यक्त्व बिना नही हो पाता। मुखसे तो सब बोल लेंगे कि ससारी पदार्थोंमे उपयोग फँसाना यह अकल्याण है और अपने आत्मामे उपयोग लगाना यह कल्याण है। ऐसा बोल तो सब लेंगे मगर आत्मस्वरूपका अनुभव हुए बिना यथार्थता न जगेगी कल्याण और अकल्याणकी। जैसे जाड़ेके

दिन हैं तालाबमे नहाने बच्चे लोग जा रहे हैं, अब वे तालाब के किनारे खडे हुए पानीमे कूदनेसे डर रहे हैं, पानीमे कैसे घुसें ? ठड लगेगी। तो पानी ठडा होता है और दुसह होता है, यह ज्ञान तो हो रहा है उन बच्चोको मगर पानीमे कूदने पर उसका सही अनुभव हो पाता है। उससे पहले उसका उन्हें सही अनुभव नही होता। तो ऐसे ही जब अनुभव सहित ज्ञान होता है तब यह कल्याण है, यह अकल्याण है, यह निर्णय पक्का बनता है। तो कल्याण अकल्याणका निर्णय सम्यग्दर्शन से हुआ। किया तो ज्ञानसे ही निर्णय मगर अनुभव बिना ज्ञान सही निर्णय नही कर सकता। और यही कारण है कि सम्यग्दर्शनके बिना उस ही ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहा गया है, तो यह क्रम रहा। पहले तो साधारण ज्ञान होना आवश्यक है, जिस ज्ञानके प्रतापसे वह मद कषाय करेगा और सम्यक्त्व-घातक ७ प्रकृतियोमे कुछ फर्क चलेंगे मायने इस ज्ञान और मद कषायके प्रतापसे वे ७ प्रकृतियाँ स्वय कमजोर बनेंगी। ऐसा होते होते वह समय आयगा कि ७ प्रकृतियोका उपशम क्षयोपशम या क्षय हुआ तो उनके सम्यक्त्व जगा। सम्यक्त्व जगते ही आत्माके स्वभावका अनुभव होना, सम्यग्दर्शनका होना, सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोका उपशम आदिक होना यह सब एक साथ चल रहा है। फिर भी निमित्त नैमित्तिक भाव उनका जिस प्रकार है उसी प्रकार है। पहले हुआ साधारण

ज्ञान, फिर हुआ सम्यग्दर्शन, उसके कारण बना सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञानकेकारण कल्याण अकल्याणका निर्णय बनता है। तब ही तो निकटभव्य जीव अकल्याणको छोडकर कल्याणको ग्रहण करता इस प्रकार आत्माकी भलाईका मार्ग जाननेमे सम्यग्दर्शन सहायक है।

सेयासेयविदण्हू उध्दुदुदुस्सील सीलवतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाण ॥१६॥

(५६) श्रेयाश्रेयज्ञाता भव्यके शीलप्रतापसे अभ्युदय व निर्वाणका लाभ—पूर्व गाथामे यह बताया था कि कल्याण और अकल्याणका परिचय सम्यग्दर्शनसे हुआ। तो सर्व पदार्थों के परिचयसे और सर्व पदार्थोंका परिचय हुआ सम्यग्ज्ञानसे, किन्तु सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके कारण हुआ इसलिए सबकी जड तो सम्यक्त्व है। तो इस तरह कल्याण और अकल्याण का जानना बना। अब इस गाथामे यह बात बतला रहे है कि कल्याण और अकल्याणको जाननेसे लाभ क्या है ?

आचार्यदेव कहते हैं कि कल्याण और अकल्याणका मार्ग जिसने जान लिया उस पुरुषने इस दुशीलको एकदम उडा दिया। दुशील मायने मिथ्यात्व। शील कहते हैं सम्यक्त्वको। जो आत्माका स्वभाव है वही शील है और आत्माके स्वभावको आत्मस्वभाव रूपमे ही देखे, उसमे विकार की परख न करे, हैं ही नही विकार, अविकार निरखे तो यह

कहलाया कि मैं शीलवान बन रहा हूँ और इससे उल्टे चले, बाह्य पदार्थोंमे ममता अपनायत करे तो उसे कहते हैं कि यह कुशील हो गया है। तो जिसने कल्याण और अकल्याणका मार्ग पहिचान लिया उसने मिथ्यात्वको उडा दिया अथवा मिथ्यात्व उसके उडा ही है तब तो वह कल्याण और अकल्याणका मार्ग जानता है। सो जिसने कल्याण और अकल्याणका मार्ग जाना वह मिथ्यात्वसे रहित है। शीलव्रत याने आत्माका जो स्वभाव है उस स्वभावके ही आदरमे, स्वभावकी अभिमुखतामे ही रमने की धुन है, जिसको यह अतरग शील मिल गया उसको बाह्य शील अपने आप आयेंगे, उसके वह दुशील नही रहता, किन्तु शीलवान रहता है। तो इस तरह इस जीवने सम्यक स्वभाव का अनुभव किया है। सो उसके फलसे यह तीर्थंकर आदिक पदोको प्राप्त करता है, निर्वाण पदको प्राप्त करता है। शीलसे सब संकट टलते हैं। आत्माका शील है ज्ञायक स्वभाव अंतःस्तत्त्वका अनुभव। यह ऐसी परम औषधि है कि इसके द्वारा ससारके सारे सकट दूर होते हैं। निर्वाण मायने सकटोका बुझ जाना। बौद्ध लोग कहते हैं कि आत्माका मिट जाना यह ही निर्वाण है। सौगतमतके अनुसार निर्वाण होनेपर आत्मा न पूर्व दिशामे जाता है, न पश्चिम उत्तर आदिकमे, और न ऊपर नीचे, वह कही फैलता नही, किन्तु नष्ट हो जाता है, शान्त हो जाता है, तो आत्माके नष्ट होनेका ही नाम निर्वाण है, ऐसा

सौगतमतमे मानते हैं, पर उनकी यह बात ठीक नही है। समस्त सकट नष्ट हो जाना ही निर्वाण है, संकट बुझ गए, निर्वाण हो गया। जैसे कोई अजान महिला चूल्हेसे अधजली लकडी निकालकर उसमे पानी डाल देती है, अब आग बुझ गई, आग का निर्वाण हो गया ऐसे ही सकटोका निर्वाण होता। सकट अब नही रहे और न अब आगे अनन्त काल तक कोई सकट आ सकेंगे ऐसी स्थिति वह पा लेता है जिसने कल्याण अकल्याण का निर्वाण किया। तो निर्वाण प्राप्त किया जिस जीवने उसका मूल है सम्यग्दर्शन। जैसे छहढालामे बताया है—"मोक्षमहल की परथम सीढो" यह सम्यग्दर्शन मोक्ष रूपी महलकी पहली सीढी है। जैसे—जो पहली सीढीपर ही नही आया वह महल पर कैसे चढेगा, ऐसे ही जो जीव अभी सम्यग्दर्शनके भावमे ही नही आया वह मोक्षमे कैसे पहुचेगा ? तो निर्वाणका मूल रहा सम्यग्दर्शन। यद्यपि सम्यक्त्व होते ही निर्वाण नही होता। सम्यक्चारित्र जब पूर्ण होता है तब निर्वाण होता है। मगर सम्यक्त्व बिना सम्यक्चारित्र नही हो सकता, तो निर्वाण कैसे होगा। इसलिए मोक्षकी मूल (जड) सम्यग्दर्शन बताया है।

जिणवयणमोसहमिण विसयहुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरण खयकरण सव्वदुक्खाण ॥१७॥

(६०) जिनवचनपरमौषधसेवनसे क्लेशप्रक्षय—इससे पहले की गाथामे यह बताया गया था कि सम्यक्त्वसे ज्ञान बना,

ज्ञानसे पदार्थका निर्णय हुआ, पदार्थोंके निर्णयसे कल्याण अकल्याणकी जानकारी हुई, कल्याण अकल्याणकी जानकारीसे दुशील सदाके लिए मिटा और यह शीलवान बना मायने आत्म-स्वभावमे उपयोग बनने लगा तो उस शीलके फलसे सद्गति मिलती है, अभ्युदय मिलता है और उससे उसके बाद फिर निर्वाण प्राप्त होता है। जब तक सम्यग्दृष्टि जीव ससारमे रहता है तब तक वह उत्तम गतियोमे ही रहता है, अतमे मोक्ष होता है। तो उस मोक्षकी विधि बने यह जिन उपायोसे होता उन उपायोका भी मूल क्या है ? जिन वचन। जैसे बताया गया था कि साधारण ज्ञान हुए बिना सम्यक्त्व भी नही होता। तो ऐसे साधारण गुण अनुभवरहित ज्ञान ही सही, मगर वह ज्ञान भी तो जिनवचनके बिना नही हो सकता। स्वाध्याय करे, जिनवचनोको अपने हृदयमे बैठाये, उसका रहस्य जाने तो ये सब बातें होती है। और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान होनेके बाद भी वह सम्यग्ज्ञानमे बढता रहे, चारित्रको पाले चारित्रमे वृद्धि होवे इसके लिए भी जिनवचनोका स्वाध्याय चाहिए। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवानके ये वचन औषधिरूप है।

(६१) **सहज सत्य आरामके लिये विषयसुखगन्दगीके विरेचनकी अत्यावश्यकता**—जैसे किसीको अफरा चढ गया, बुखार हो गया, कुछ भी यह रोग होता है तो वह पेटके रोग से होता है अजीर्णसे रोगकी शुरुआत होती है। जुकाम

हो, बुखार हो, बडेसे बडा रोग हो, जैसे जलोदर है या अन्य कुछ है, सबकी जड है अजीर्णता। उदराग्नि सही न होना। मदाग्नि होनेपर उसे सब रोग घेर लेते हैं। जब कोई कठिन रोग हो गया तो उसका उपाय वैद्य लोग करते हैं कि इसको बमन कराओ। जल्दी किसीकी तबियत ठीक करना हो तो बमनकी औषधि देते हैं जिस औषधिको देनेसे बमन हो जाता है और बमन होनेके बाद उसकी तबियत ठीक हो जाती है। न भी औषधि देवे और किसीका जी मिचला रहा, बुखार सा आ रहा, सिरदर्द सा भी करने लगा तो ऐसा रोगी जानता है कि उस कालमे प्रायः बमन होता है और बमन होनेके १०-५ मिनट बाद ही उसको आराम हो जाता है, तो ऐसे ही जिनवचनरूपी परम औषधिक पान करनेसे इन्द्रियसुखका विरेचन होता है। जीवके साथ रोग लगा हुआ है इन्द्रियविषयसुखकी इच्छा और उसका ही ख्याल, उसकी ओर ही धुन, ये जीवको बड़े विकट रोग हैं और इस रोगसे प्राय· सारा ससारी प्राणी व्यस्त है। तो जब इस जीवको ऐसा अफरा चढा है इसको विषयसुख रुचनेसे, विषयसुख भोगनेसे निरन्तर आकुलता लगी रहती है तो उस पीडाको नष्ट करनेका उपाय क्या है कि विषयसुख इसको न रुचें, विषय सुखोका यह विरेचन कर दे। यह ही एक उपाय है कि यह जीव सुख शान्तिमे रह सकता है। इस समय भी अपने आपमे निरखो

तो जब चित्त प्रसन्न है, शारीरिक आधिव्याधि कोई नही है, किसी तरहका शारीरिक कष्ट नही है, कुछ सुख चैनमे आ गया तो अब उसका विषयोमे चित्त जाने लगा। जब यह कठिन विपत्तिमे होता है तब तो विषय सुखोकी ओर चित्त नही जाता, उन कठिन विपत्तियोमे भी वह घबडाता नही है और उन विपत्तियोके दूर करनेका ही उपाय करता है। जब वे विपत्तियां दूर हुई, व्याधियां खतम हुई तो उसका दिल अब चलने लगता है विषयोकी ओर। विषयोकी ओर उसका चित्त जाता है और उसके जो चित्तकी अस्थिरता बनती है, चित्त कही ठिकाने सही जगह नही रह पाता, उस समयका रोग तो उस शरीरको वेदनासे भी भयकर रोग है मगर मोहके कारण वे इस बातका परिचय नही कर पाते। तो विषय सुखोका विवेचन आवश्यक है और उसकी औषधि है जिनवचन। जो स्वाध्यायमे चित्त देता है, स्वाध्याय द्वारा नये-नये तथ्योको जानता है उन तथ्यो को अपने आपके आत्मामे घटित करता है तो उसके समस्त विषय सुखोका वमन हो जाता है। फिर यह अपनेको हल्का अनुभव करने लगता है।

(६२) **जिनवचनपरमौषधसेवनसे विषयसुख विरेचनपूर्वक जरामरणादिरोगका परिहार**—अनेक पुरुष ऐसा कहने लगते हैं कि मुझपर तो बहुत बडा बोझ है। अन्य लोगोको कुछ बोझ नही दिख रहा कि इसपर क्या बोझ है। बल्कि

टोपी तकका भी बोझ उसके सिरपर नही है लेकिन लोग कहते हैं कि मुझपर बडा बोझ आ गया। तो बताओ वह किस चीज का बोझ है ? वह बोझ है विषय सुखोकी इच्छाका। विषय सुखके साधन मिलनेकी उसकी बडी वासना है और यह ख्याल आ गया कि अब विषय सुखके साधनोके मिलनेमे बड़ी कठिनाई होगी, बस उसका बोझ है इस जीवपर, अन्यथा कोई बोझ नही। यदि भीतरमे विषय सुखोकी वाञ्छा नही है। अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभव बन गया है और इस ही कारण जगतके समस्त पदार्थोंसे वह उदासीन है, ज्ञानानन्दघन अतस्तत्त्वकी उपासनामे ही उपयोग लगता है उस पुरुष पर काहेका बोझ ? बोझ तो उनपर है जिनको अतस्तत्त्वका अनुभव नही। जिन्होने इस शरीरको ही माना कि यह मैं हू और इस ही खोटी मान्यताके कारण शरीरको तुष्ट रखनेका, शरीरकी कीर्ति सुननेका, शरीरके नाते दूसरोको अपना मानने का उसके विकल्प जगने लगता है। जितने भी जगतके नाते हैं वे सब शरीरके नातेसे नाते हैं। यह शरीर जिसके शरीर मल से उत्पन्न हुआ वे माता पिता हैं। इस शरीरके मलसे जो उत्पन्न हो जायगा वह बेटा बेटी है। यह शरीर जिस उदरसे उत्पन्न हुआ उसी उदरसे जो शरीर उत्पन्न होता है वह इस का भाई है। इस शरीरको रमानेके लिए जो आश्रय पड़ गये हैं वे स्त्री पुरुष हैं, अन्य भी जितने रिस्ते आप देखेंगे डाइरेक्ट

इन्डाइरेक्ट वे सब इस शरीरके नातेसे हैं। जैसे बताओ फूफा के मायने क्या ? शरीर जिस पुरुषके शरीरमलसे उत्पन्न हुआ है वह पिता है ना ? वह पिताका शरीर जिसके उदरसे उत्पन्न हुआ उसी उदरसे जो लडकी उत्पन्न हुई वह इसकी बुवा है, और उस बुवाके शरीरको रमाने वाले जो शरीर है वह फूफा है। बताओ कौन सा ऐसा रिस्ता है जो आत्मासे सबध रखता है ? सारे रिस्ते इस शरीरसे सम्बध रखते है। सास मायने क्या ? इस शरीरको रमाने वाला शरीर जिसके उदरसे उत्पन्न हुआ वह सास। यो ही मौसी, नानी, दादी आदिक कोई भी रिस्ता ले लो, आपको शरीरके रिस्तेसे सब रिस्ते मिलेंगे, वहाँ आत्माके रिस्तेकी बात रच नही है। तो यह जीव इस शरीर के आश्रयसे विषयसुख भोगना चाहता है वही दुःख है। तो जिन वचनकी औषधि पियें जिससे विषय सुखोका वमन हो जाय और जन्म, जरा, मरण आदिक रोग नष्ट हो जायें। यह ही परम औषधि सर्व दुःखोके क्षयका कारण है। इससे अगर कल्याण चाहते हो तो जिनवचनरूपी परम औषधिका पान करो।

एग जिणस्स रूव बीयं उक्किट्ठसावयाण तु।
अवरट्ठियाण तइय चउत्थ पुण लिंगदसण णत्थि ॥१८॥

(९२) मूलसघमे प्रथमलिङ्ग, मुनिलिङ्ग—पूर्व प्रकरणमे यह बताया गया था कि जो जिनदर्शनसे बाह्य हैं, जहां परिग्रह

है, कायशुद्धि नही है ऐसे पुरुषको अगर लज्जा, गारव, भयके कारण ज्ञानी भी बदना करता है तो ज्ञानीको भी दोष। उस प्रकरणसे सम्बधित यह बात कही जा रही है कि फिर सत्यरूप क्या है। जिसका रूप तो प्रथम लिङ्ग है याने निर्ग्रन्थ दिगम्बर, शरीर मात्र ही जिसका परिग्रह है, अन्य कुछ साथ नही है, ऐसा जो रूप है वह तो प्रथम लिङ्ग है। जैन दर्शनमे पूजने योग्य तीन लिङ्ग बताये गए हैं। चौथा लिङ्ग जैन दर्शनमे नही है। लिङ्ग मायने भेष। तो पहला रूप तो जिनरूप है। निर्ग्रन्थ दिगम्बर, परिग्रह रहित। दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकका है, क्षुल्लक ऐलक आदिक और तीसरा लिङ्ग हैं अर्जिकाओका। चौथा लिङ्ग जैनदर्शनमे नही है। इन तीन भेषोमे जो साधु सत मिलें वे जैनदर्शनमे वदनीय हैं। तो जो आरम्भ परिग्रह-सहित हैं वे वदनीय नही है। जैनसिद्धान्तमे तीन ही भेष बताये गए हैं—एक तो यथाजात रूप। यह उत्कृष्ट रूप है। यथाजातके मायने जैसे बालक उत्पन्न होता तो उसके साथ क्या है ? वस्त्र भी नही है, नग्नरूपमे है, जैसा उस उत्पन्न बालकका रूप है वैसा ही उस साधुका रूप है और साथ ही उसमे किसी प्रकारका विकार नही। बालकवत् निर्विकार याने जिस जीवकी ऐसी उत्कृष्ट भावना हुई है कि आत्मतत्त्वको ही जिसको धुन लगी है, अन्य कुछ जिसे सुहाता नही है वह ही पुरुष इस निर्ग्रन्थ लिङ्गको धारण कर सकता है। यद्यपि आज

कलिकालमे कुछ ऐसे लोग भी निर्ग्रन्थ भेष धारण करने लगे, कुछ पहले भी थे कि जो ख्याति, लाभ, पूजादिकी चाह रखकर मुनि बन जाते हैं। भले ही बन जायें, मगर वास्तविक मुनिपना तब ही बनता है जब कि उनके चित्तमे विकार नही रहता। सूक्ष्म विकार तो श्रेणीमे भी चलते है मगर जो समझ में आये बुद्धिगत विकार वे मुनि जनोके नही होते। मुनिका रूप वैसा होना चाहिये जैसा कि प्रतिमाका रूप। उसमे राग-द्वेष कहाँ, उसमे परिग्रह कहाँ ? तो ऐसे ही मुनि भी रागी द्वेषी नही हो। धन्य है वह मुनि जो अन्तरङ्गमे इतना पवित्र है कि सर्व जीवोमे उस भगवान सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन करते हैं और इसी कारण किसी जीवपर वैर (द्वेष) नही होता। ऐसा यथाजात लिङ्ग मुनिलिंग है वह तो प्रथम है।

(६३) मूलसंघमे द्वितीय व तृतीय लिङ्ग क्षुल्लक ऐलक व आर्यिकाका पद—दूसरा भेष है उत्कृष्ट श्रावकका। क्षुल्लक और ऐलक ये उत्कृष्ट श्रावक कहलाते है। वैसे उत्कृष्ट श्रावक १०वी प्रतिमाधारीको भी कहते हैं, किन्तु जहाँ लिंग और भेष का प्रकरण है वहाँ क्षुल्लक और ऐलकको ही लिया जाता है, यह दूसरा भेष है और वदनाके योग्य है। और अवर (जघन्य) पदमे स्थित अर्जिकायें हैं उनका तीसरा लिंग कहा गया है। इन तीनके अतिरिक्त चौथा भेष जिनदर्शनमे नही है। अगर अन्य प्रकारका भेष हो तो समझो कि वह मूल संघ

से बाह्य है। मूल सघमे ये तीन ही भेष माने गए हैं।

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूव सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ।। १९ ।।

(९४) **सम्यग्दृष्टिका सामान्य परिचय**—जिनके जिन-दर्शनसम्मत ऐसे बाह्य वेष होते हैं उनका अतरंग कैसा होता है, इसका सकेत इस गाथामे दिया है याने वे सब सम्यग्दृष्टि होते हैं। सम्यग्दर्शन हुए बिना कोई मुनि आदिकका भेष रख ले तो यह उसकी ही बात है मगर सम्यक्त्व बिना छठा गुण-स्थान नही होता। बाहरी भेषमे क्या पता कि गुणस्थान कौनसा है ? भेष जरूर है मुनिका, मगर गुणस्थान तो आत्मा के गुणोके दर्जे हैं। जहाँ सम्यक्त्व है और महाव्रत है वे ही मुनि कहलाते है। तो ऐसे जो तीन लिंग वदनीय बताये गए है वे सभीके सभी वंदनीय हैं। तो सम्यग्दृष्टि कौन कहलाता है, वह एक लक्षणकी तरह वर्णन किया गया है। जो ६ द्रव्य ९ पदार्थ, ५ अस्तिकाय, ७ तत्त्व ये बताये गए है, जैसा उनका स्वरूप है उस ही स्वरूपमे श्रद्धान जो करता है वह सम्यग्दृष्टि पुरुष कहलाता है।

(९५) **सम्यग्दृष्टिका द्रव्यके संबंधमें श्रद्धान**—द्रव्य तो अनन्तानन्त हैं मगर उनकी जातियाँ ६ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमे चेतना पायी जाय सो जीव। चेतना अन्य पदार्थोंमे न मिलेगी। लक्षण असाधा-

रण गुणसे होते है। निर्दोष लक्षण वह कहलाता है जिसमे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष नही होते। अव्याप्तिके मायने—अ मायने नही, व्याप्ति मायने रहे। जो समस्त लक्ष्यमे न रहे ऐसे लक्षणको अव्याप्ति कहते हैं। जैसे किसीने कह दिया कि पशुका लक्षण सींग है तो सीग क्या सब पशुओ मे पाये जाते है ? नही। तो यह लक्षण समस्त लक्ष्योमे नही पाया जाता इस कारण यह अव्याप्ति दोपसे दूषित है, इसी तरह कोई जीवका लक्षण करे राग, जो प्रेम करे, राग करे सो जीव, तो राग, यह लक्षण क्या सब जीवोमे मिलेगा ? विरक्त मे तो न मिलेगा, अरहंत प्रभुमे नही है, सिद्धमे नहीं है, तो यह सब जीवोमे न रहा इस कारणसे यह जीवका लक्षण राग करना अव्याप्ति दोषसे दूषित है। अतिव्याप्ति दोष। अति मायने अधिक, व्याप्ति मायने रहे, जो अतिसे भी अधिक रहे उसे अतिव्याप्ति कहते हैं याने लक्ष्यमे मिलता रहता है वह तो ठीक है, पर लक्ष्यके अलावा अलक्ष्यमे भी पहुच गया, जिसका हम लक्षण नही कर रहे हैं उसमे भी लक्ष्य पहुच गया तो इसे बोलेंगे अतिव्याप्ति। जैसे किसीने कहा कि गाय का लक्षण सीग है, सो सींग गायमे मिलते हैं यह तो ठीक है, मगर गायके अलावा भैंस, बकरी, बैल वगैरहमे भी तो सीग मिलते है। तो यह कोई लक्षणकी बात न बनी। लक्षण तो उसे कहते हैं जो लक्षित द्रव्यको सबको ग्रहण कर ले और

अलक्षितको ग्रहण न करे। अतिव्याप्ति दोष जिस लक्षणमें आये उससे लक्ष्य ही ग्रहणमे नही आता अन्य भी ग्रहणमे आते सो लक्षण नही बनता जैसे किसीने कहा कि जीवका लक्षण अमूर्त-पन। है, अमूर्त कहते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श न होनेको। तो बताओ—जीव अमूर्त है कि नही ? है। तो यह बात तो सही है मगर जीवके अलावा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य ये भी तो अमूर्त हैं। तब यह लक्षण सही न बना। जैसे किसी सभामे बहुतसे लोग बैठे हैं और कोई पुरुष मान लो किसी चपरासीसे किसी बाबू जीको उस सभामे बुलवाता है, वह, चपरासी नया था, बाबू जीको पहचानता न था, पर लक्षण उस पुरुषने यह बताया कि जो नेकटाई लगाये हुए हैं उन बाबू साहबको बुला दो। अब मान लो उसमे कई लोग नेकटाई लगाये हो तब तो वह उन बाबूजी की पहिचान नही कर सकता, तो ऐसे ही जो लक्षण बहुतमे पाया जाय उस लक्षणसे भी पहिचान नही बनती। और, एक दोष है असम्भव दोष। याने जरा भी सम्भव नही है। जैसे कह दिया कि मनुष्यका लक्षण है सीग। अब मनुष्यमे सीग जरा भी नही पाये जाते तो वह लक्षण दूषित है।

(६८) **मनुष्यमे सींगका अभाव होनेसे सींग लक्षणमें असंभव दोष**—देखो जितनी भी रचना है वह नामकर्मके उदय से आहार वर्गणाओमे स्वय बनती है। सीग हड्डीका मैल है

और नाखून भी हड्डीका मैल है । तो प्रायः करके ऐसा देखनेमे आता कि जिन जीवोंके हड्डीका मैल नाखूनके रूपमे निकल रहा है उनके सीग नही हुआ करते । जब शरीर मे हड्डी है तो उसका मैल भी तो निकलना आवश्यक है । जब किसीके मैल निकल गया नाखूनके रूपमे तो फिर उसे सीगकी क्या जरूरत है ? मनुष्य हैं, वंदर हैं, घोडे हैं, पक्षी-जन है, इनके नाखून हुआ करते हैं इसलिए इनके सीग नही दिखते, और जिनके नाखून किसी भी रूपमे नही निकल पाते तो उनका हड्डी विकार फूटना तो चाहिए याने यह पञ्चेन्द्रि-यो की बात कही जा रही है, जब कहीसे वह हड्डी न फूट सकी तो सिरमे से दो सीग निकलकर फूट गए । (यह बात प्राय करके देखनेमे आती । किसी किसीके तो नाखून भी होते और सीग भी) यह सब नामकर्मकी रचना है। कोई कहे कि मनुष्य का लक्षण सीग तो यह असम्भव दोष है । जरा भी सम्भव नही । ऐसे ही कोई कहे कि जीवका लक्षण है भौतिकपना याने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका सयोग यह है जीवका लक्षण, तो यह असम्भव दोष है कितना भी पृथ्वी, जल आदिकका सयोग बन जाय लेकिनउसमे जीव नही आ सकता । जीवकी सत्ता उन चारके सयोगसे नही बन सकती । यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके सयोगसे जीव बनने लगें तब तो बडी आफत आ

जायगी। फिर तो महिलाओंको रसोई बनाना भी मुश्किल हो जायगा, क्योकि रसोईमे मानो मिट्टीकी हांडीमे कढी पकाना है तो देखो वहाँ अग्नि भी है, पानी भी है, मिट्टी भी है और हवा भी है। इन चारोका जब संयोग हो गया तब तो उस हांडीमे से सांप, बिच्छू, नेवला, बदर, शेर आदि अनेक जानवर बनकर निकल पड़ना चाहिए, पर ऐसा तो नही होता। सो भौनिक नही है यह जीव। भौतिक कहे कोई जीवको तो यह असम्भव दोष है।

जिसमे कोई दोष न आये ऐसा ही लक्षण सही होता है। तो छह द्रव्योमे जीवका लक्षण है चेतना। जो सबमे तो पाया जाय और अन्यमे न पाया जाय वह सही लक्षण है। पुद्गल का लक्षण है रूप, रस, गंध, स्पर्शका होना। यह लक्षण सबमें पाया गया, पर जीवमे नही पाया गया या अन्यमे नही पाया गया सही लक्षण। धर्मद्रव्यका लक्षण है गतिहेतुत्व याने जीव और पुद्गल चलें तो उनके चलनेका निमित्त कारण बनना। जैसे मछलीको पानी निमित्त है चलनेके लिए, मगर पानी तो चलाता नहीं है। कही मछलीको धक्का देकर पानी जबरदस्ती तो नही चलाता। हाँ यदि मछली स्वय चलना चाहे तो चले और न चलना चाहे तो न चले। तो ऐसे ही धर्मद्रव्यके होने से ऐसा मौका मिलता है कि जीव पुद्गल चलें तो चल देते हैं। अधर्मद्रव्यमे स्थितिहेतुत्व। स्थिति कहते हैं ठहरनेको। उस

ठहरनेमे मददगार होना। चलते हुए जीव पुद्गल रुकते हैं तो जो कोई भी नवीन बात बनती है उसका निमित्त कारण हुआ करता है। तो उस रुकनेका निमित्त है अधर्मद्रव्य। आकाश-द्रव्यका लक्षण है अवगाहन हेतुत्व। जीव पुद्गल रह सके, उनका अवगाह रहे, यह आकाशमे होता ही नही। और काल द्रव्यका लक्षण है परिणमनहेतुत्व। ये जगतके सभी पदार्थ परिणमते रहते है। नई-नई अवस्थायें बनाते रहते हैं तो इन अवस्थाओके बननेमे निमित्त क्या है? कालद्रव्यका परिणमन। कालद्रव्य कोई कल्पित बात नही, किन्तु लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य अवस्थित है और उसकी पर्याय समय-समयके रूपमे चलती है, उनका जो समूह है वह व्यवहारकाल है। तो ये छह प्रकारके द्रव्य जिस प्रकारका स्व-रूप रखते हैं उस ही रूपमे सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा करता है।

(६६) सम्यग्दृष्टिका नव पदार्थोंके सम्बन्धमे श्रद्धान——६ पदार्थ—जीव, अजीव, आश्रव, बध, पाप, पुण्य, सवर, निर्जरा और मोक्ष, ये ६ पदार्थ कहलाते हैं, ऐसा उस पदका अर्थ है, पर वास्तविकता वहाँ यह है कि पर्याय कोई स्वतत्र वस्तु नही है। आश्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष, ये पर्यायें हैं, जीवकी पर्याय, अजीवकी पर्याय। तो पर्याय कोई अलग वस्तु नही है, किन्तु पर्याय जो समझमे आती है उसका अर्थ है कि पर्यायमुखेन द्रव्यकी समझ बनो। जैसे पीला, नीला आदिक ये

सब दिख रहे हैं तो बताओ पीला, नीला आदिक ये कोई वस्तु हैं क्या ? अगर वस्तु हैं तो आपसे कहें कि हमे सिर्फ पीला ला दो, अन्य कोई चीज न लावो, मैटर मत लावो, सिर्फ पीला पीला ला दो, तो पीला, पीला तो कुछ होता ही नही। भीत पीली, दवा पीली, रग पीला याने कोई चीज है सो पीली है, पीला अलगसे कुछ नही। तो जैसे पीली पर्यायके रूपमे हमने उस वस्तुको जाना ऐसे ही इन सब पर्यायोके रूपसे जीव और अजीवको भी जाना जाता है। मगर पर्याय है तो सही, याने उन सबकी दशायें तो हैं। तो ऐसे आश्रव आदिक मिलकर ९ पदार्थ होते है। उनका सही रूपमे श्रद्धान करना। आगे बतायेंगे ७ तत्त्व उन सात तत्त्वोमे दो पदार्थ बढा दिए, पुण्य और पाप इस कारण ९ हो गए। पुण्य और पापके मायने ऐसी कर्मप्रकृतिया कि जिनमे पापका अनुराग पडा है वे पाप प्रकृतियाँ हैं और जीवमे जो शुभभाव है वह पुण्यभाव है; जो अशुभ भाव है वह पापभाव है। तो ९ पदार्थ जैसे है उस ही रूपमे उनका श्रद्धान सम्यग्दृष्टि जीव करता है।

(१००) सम्यग्दृष्टिका पञ्च अस्तिकायोके सबंधमे श्रद्धान— ५ है अस्तिकाय। कालद्रव्यको छोडकर शेष ५ द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। जो बहुप्रदेशी हो सो अस्तिकाय है। काय मायने शरीर। शरीर जैसे बहुतसे परमाणुओका पिण्ड है ऐसे ही जो द्रव्य बहुत परमाणुओका प्रचय हो उसे कहते हैं अस्ति-

काय। बहुत प्रदेश कोई इससे अलगकी चीज नही है, किन्तु एक ही अखण्ड वस्तु बहुत विस्तारमे चली गई है सो उसके प्रदेश भेद बताये गए हैं। तो जीव है असख्यातप्रदेशी। पुद्गल हैं असंख्यात, सख्यात और अनन्त प्रदेशी। परमाणु हैं एकप्रदेशी। यहाँ भी यह जानना कि वास्तविक द्रव्य तो परमाणु है, और जो दिख रहा है यह तो अनेक परमाणुओका पिण्ड है, मगर यह अनेक परमाणुओका पिण्ड ऐसे बन्धनमे है कि जो एककी ही तरह व्यवहारमे कहा जाता है। परमाणु एकप्रदेशी है, धर्मद्रव्य असख्यात प्रदेशी है, सारे लोकमे व्यापक है, अधर्मद्रव्य असख्यात प्रदेशी है। सारे लोकमे व्यापक एक है, आकाशद्रव्य अनन्तप्रदेशी है। आकाशका कोई अन्त नही पा सकता। ऐसी कल्पना करो कि कोई महान समर्थ इन्द्र देव या कुछ भी या कोई भी पदार्थ बडी तेजीसे गमन करे, मानो एक मिनटमे करोडो अरबो कोश चल दे और वह कल्पकाल तक भी चलता रहे तो ऐसे क्या आकाशका अन्त आ जायगा कि यहाँ तक है आकाश, इससे आगे नही है? अगर आकाशका अत है तो उसके बाद क्या है सो तो बताओ? बताओ वहाँ ठोस है कि पोल? बात तो वहाँ ये दो ही रहेंगी। अगर ठोस है तो वह आकाश बिना तो नही रह सकता। वहाँ भी आकाश है और पोल है तो वहाँ भी आकाश है। आकाशका अन्त नही है, वह है अनन्तप्रदेशी। और कालद्रव्य

को अस्तिकायमे नही किया, क्योकि वह एक प्रदेशी है तो प्रदेशकी दृष्टिसे, क्षेत्रकी दृष्टिसे इन द्रव्योको अस्तिकाय कहते हैं।

(१०२) **सम्यग्दृष्टिका सप्ततत्त्वविषयक श्रद्धान**—७ तत्त्व तो मोक्षमार्गके खास प्रयोजनभूत है ही, क्योकि जब यह जीव जानता है कि जीव और कर्म इनके सम्बधसे यह दु ख पा रहा है तो ये मूल दो चीजें हुए जीव और अजीव। जीवमे अजीव आया यह हुआ आश्रव और जीवमे वे अजीव कर्म बहुत समय के लिए ठहर गए यह हुआ बध और जीवके शुद्ध भावोके कारण कारण कर्म न आ सकें यह हुआ सम्वर और जो पहले के बँधे हुए कर्म हैं वे जीवसे खिरने लगें तो यह हुई निर्जरा। जब सब कर्म खिर जायें, खालिस केवल एक जीव मात्र रह जाय तो यह कहलाता है मोक्ष। अब मेरेमे आश्रव न हो, बध न हो तो इसमे अपनी पूज्यता है। आश्रव किस कारण होता है ? उन विषयोकी अभिलाषा अथवा कषायमे पड जाना, इस से आश्रव होता है, यदि यह बात न हो तो आश्रव न होगा, कल्याणका मार्ग मिलेगा। तो इन ७ तत्त्वोके यथार्थ ज्ञानसे इस जीवको सम्यक्त्वका लाभ होता है। तो यह सम्यग्दृष्टि पुरुष कौन कहलाता है ? तो ६ द्रव्य, ९ पदार्थ, ५ अस्तिकाय, ७ तत्त्व, जिस स्वरूपमे जिनेन्द्र देवके द्वारा बताये गए हैं उस ही स्वरूपमे इन तथ्योका श्रद्धान जो करता है उसको

ही सम्यग्दृष्टि जानियेगा। तो जो सम्यग्दृष्टि हो और फिर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेषोका धारण करने वाला हो सो वह लिङ्ग भेष अथवा उसमे रहने वाला आत्मा जैन शासनमे पूज्य माना जाता है।

जीवादी सद्दहण सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्त।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्त ॥२०॥

(१०३) व्यवहार और निश्चयसे सम्यक्त्वका स्वरूप—अब तक यह बताते आये हैं कि सम्यक्त्वके बिना मोक्षमार्गमे गति नही है और इतना ही नही, सम्यक्त्वरहित होकर व्रत तप धारण करके भी इस जीवके यदि कुछ लोकेषणा रहा करती है, तो उसके कारण कुछ उल्टा ही फल भोगना पडता है। तो जिस सम्यक्त्वकी इतनी महिमा कही गई कि सम्यक्त्व से निर्वाणका मार्ग मिलता है, सम्यक्त्व बिना ससारमे रुलना पडता है, उस सम्यक्त्वका यह लक्षण कहा जा रहा है। जीवादिक ७ तत्त्वोका यथार्थ श्रद्धान होना सम्यक्त्व है, ऐसा जिनेन्द्र देवने व्यवहारनयसे बताया है और निश्चयनयसे देखा जाय तो यह आत्मा ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व उत्पन्न होने मे जो साधन चाहिए उन साधनोको सम्यक्त्व कहना व्यवहार है। तो जीवादिक ७ तत्त्वोका श्रद्धान बनाना यह सम्यक्त्वका साधन है। सम्यक्त्व क्या है ? सकल्प विकल्प एक चैतन्यरस मय आत्मतत्वका अनुभव यह है सम्यग्दर्शन। तो

उस सहज अखण्ड अविकार चैतन्यमात्रका अनुभव किया जा सके उसके लिए यह अनादिकालसे कर्मोमे उडने रुलने वाले पुरुष क्या करें पहले कि जिससे सम्यक्त्वका लाभ ले सकें। तो सर्वप्रथम तो ज्ञानको बताया गया है। जानकारी करें, मैं क्या हू ? पर क्या है, परका मेरे साथ सम्बन्ध क्या है ? यह सम्बन्ध किस तरह मिट सकता है ? सम्यक्त्व होना मिट जाय और अकेला यह आत्मा रह जाय तो यह ही एक उत्कृष्ट आनन्दकी दशा है। तो इस ही बातको ७ तत्त्वोमे दर्शाया गया है।

(१०४) **सात तत्त्वोमे संसारविधि और मोक्षविधिके दर्शनकी भूमिका**—ससार कैसे हुआ और मोक्ष कैसे मिलेगा, यह बात ७ तत्त्वोके स्वरूपमे पडी हुई है। कैसे हुआ ससार ? जीव और अजीव इन दोनोका सम्बन्ध होने से ससार हुआ। जीव और कर्म ये दोनो कबसे बँधे हैं ? अब सोचिये कि कर्म बधन है जीवके रागद्वेष विभावका निमित्त पाकर और जीव के रागद्वेष भाव जगते है बँधे हुए कर्मोके उदयका निमित्त पाकर तो जो बँधे हुए कर्म हैं वे बधे कैसे थे ? जीवके विभावोका निमित्त पाकर। तो वे विभाव हुए किस तरह थे ? बँधे हुए कर्मोदयका निमित्त पाकर। तो अब इस तरह पहले की बात सोचते जाइये, कोई कर्मबध ऐसा नही है जो जीवके विभावोका निमित्त पाये विना हो गया हो। और कोई जीव

का विभाव ऐसा नही है जो कर्मोदयका निमित्त पाये बिना हो गया हो। तो एक बात कोई कह सकता क्या कि सबसे पहले क्या था ? जीवके रागद्वेष थे या कर्मोदय था ? या कर्मबंध था ? सबसे पहले एक चीज क्या थी ? जिससे पहले दूसरी बात न हो, ऐसा हो ही नही सकता। तो यह कर्मसंबध इस जीवके साथ अनादि कालसे चला आ रहा है और जीवका सत्त्व भी अनादिसे है, जीवका परम्परा सत्त्व भी अनादिसे है और जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादिसे है। एक कैसे कहा जाय ? कोई इसका ही उत्तर देवे जो आज मनुष्य है वह बापसे पैदा हुआ और वह बाप ? अपने बापसे, और वह बाप ? अपने बापसे अब सोचते जाइये और कहते जाइये, क्या कोई बाप ऐसा भी मिलेगा जो बिना बापके पैदा हो गया हो और यो ही उठ आया हो ? न मिलेगा। तो इसका अर्थ यह ही तो हुआ कि यह परम्परा अनादिसे चली आ रही है। पहले कुछ एक व्यक्ति था क्या कि जो किसीसे पैदा न हुआ हो और उससे सतान चली हो ? ऐसा कुछ नही है।

(१०५) **संसारकी अनादिता व निमित्तनैमित्तिक भावका निर्णय न होनेसे सृष्टिकर्ताके खोजकी आवश्यकताका वातावरण**—ससारके इस अनादिपनेका निर्णय लोगोको झट ध्यानमे नही आता तो अनेक कल्पनायें जग जाती है कि कोई

पहले एक शक्ति थी, उसने सबको पैदा किया। जो लोग एक ईश्वरको समस्त जगतकी रचनाके फंदमे डाल रहे हैं उसके कारण यह अनादिपनेका निर्णय नही होता है, एक बात। दूसरी बात उपादान और निमित्त दृष्टिसे जब कार्य विधिका निर्णय किया जाता है तो यह ही तो निर्णय होता है कि निमित्त सन्निधानमे उपादान इन इन सृष्टियोरूप बन जाता है। तो सृष्टिरूप बना कौन ? यह उपादान, और उसमे भी एक जीवका उदाहरण ले लीजिए, क्योकि सब द्रव्योमे ज्ञाता द्रष्टा समर्थ जीवद्रव्य है, उसको जाननेके कारण और उसके ही चमत्कारकी बहुत बडी महिमा आँकी जाती है। तो यह जीव किसने रचा ? तो उत्तर आया कि जीवने अपने उपादानसे अपनेमे अपनी सृष्टियाँ रची। ऐसे ही तो सब जीव हैं। अगर सबका ओघ उपादान देखा जाय तो एक समान चैतन्यमात्र हैं। सो दृष्टिमे एक तरफ तो यह रख लिया कि चिन्मात्र तत्त्व यह दृष्टिका मूल है और यह बात भूल गए कि ऐसे अनन्त चेतन हैं और उनका उनका अपना-अपना उपादान अपनी सृष्टियोका कारण है। तो इस मूडमे यह बात बैठ गई कि एक चैतन्य शक्ति सब सृष्टियोका कारण है।

(१०६) संसारविधि—बतलाया यह जा रहा था कि इस चेतनका और कर्मका सम्बन्ध अनादिसे चल रहा है, वह निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक एक ही कर्म नही है उनकी सख्या

अनन्त है किसी न किसीका सम्बन्ध बना अनादिसे है, क्योंकि कर्मकी परम्परा अनादिसे है । तो जीव और कर्म इन दोनोका जो सम्बन्ध है उसका नाम ससार है । जीव रागद्वेष करता है उसका निमित्त पा कर्मोंका आश्रव होता है । कर्मोंके आश्रवका अर्थ है कि जो कार्माग वर्गणायें विश्रसोपचयरूपमे जीवके साथ लगी हैं उनमे कर्मपना आ गया, उससे पहले वह एक पुद्गल धूल जैसा था, कर्मपना न था । यद्यपि वे पुद्गल कार्माण जातिके ही थे, सभी पुद्गलोमे कर्मरूपता न आती थी । जो दिख रहे चौकी, भीत वगैरह ये कही कर्मरूप नही बन जाते । कार्माणवर्गणा जातिके ही पुद्गल कर्मरूप बनते हैं । सो जब तक कर्मरूप नही बने तब तक वे साधारण कर्म वर्गणायें थी, उनमे कर्मपना आया, इसीके मायने आश्रव हुआ । वे कर्मस्कध जीवके एक एक क्षेत्रावगाहमे तो थे ही कही बाहरसे नही खीचनेपर, पर उनमे कर्मरूपता न थी और अब कर्मरूपता आयी तो इस ही का नाम कर्मका आना कहलाता है । तो जीवमे कर्म आये सो आश्रव । आये तो हैं, पर ये कितने दिनो के लिए आये हैं और कितने समय तक जीवमे ठहरेंगे, यह बात भी एक साथ पडी हुई है, तो जितने समय ठहरे उतनी स्थिति भी तुरन्त बँध गई कि ये कर्म जीवमे इतने समय तक ठहरे रहेगे । यह स्थितिबन्ध हुआ और जो कर्म जीवमे आये, बँधे उनमे फलदान शक्ति भी तो आयी याने कितना अनुभाग

पडा है वहाँ कर्ममे कर्मका स्वयं अनुभाग बँध जाता है। यह है अनुभाग बध, और उन कार्माण स्कधोका बनना सो यह ही हुआ प्रदेश बध। इस तरहसे बध होता रहता है। जो कषायवान जीव है उसके कर्मका आश्रव आये और चला जाय तुरन्त, ऐसा नही होता, आये तो बँधकर ही रहता है। यह तो है ससार। उस बँधे हुए कर्मका उदय हुआ, जीव दुःख पाने लगा, भाव बिगडते जायें, कर्म बँधते जाये, बस यह परम्परा चलती रहती है और उसके फलमे जन्म लेता जाय, मरण करता जाय, यह भी परम्परा चली आयी है, इसके मायने है संसार।

(१०७) मोक्षविधि—अब जिस जीवको यह पता हो जाता है कि यह संसार तो बडे दु खसे भरा हुआ है, बाहरके ससार की बात नही कह रहे किन्तु खुद जीवमे जो विकारभाव आता है, कर्मोदय होता, जन्म मरण होता और इस प्रवाहमे चलना पडता है यह है इस जीवका ससार। यह ससार तो बडे दुःखो से भरा हुआ है। जिस जीवको यह पता पड जाय तो वह फेर मनन करता है कि यह ससार मिटे कैसे और निर्णय करता है कि जिस तरीकेसे ससार बना वह तरीका बदलना चाहिए, तब तो यह ससार दूर हो सकता है। वह तरीका क्या था? मोह रागद्वेषके भाव करना और उन भावोमे रम जाना, यह अज्ञानी जीवका तरीका था इस तरीके को बदलें। यदि मुक्ति

चाहते हो तो ससरणका तरीका बदलना चाहिए। तरीका बदला ज्ञानी जीवने। भेदविज्ञान किया, यह मैं आत्मा चैतन्य मात्र हू और ये खटपट गडबड़ यह कर्मरसका फोटो मात्र है, प्रतिफलन है, यह मेरा स्वरूप नही। मैं चूकि स्वच्छ हू अत· एव यहाँ कर्मविपाक झलकता है। जब यह भेद जाना और अपने आपके चैतन्यस्वरूपका ग्रहण हुआ तो उस काल फिर कर्मोका आना रुक गया। यहाँ भी जितने अंशमे इस जीवने अपने स्वरूपको ग्रहण कर स्वरूपमे रमा उतने अंशमे कर्मका सम्वर है, सबका नही है, पर उपाय एक यह ही है कि अपने स्वरूपको जानकर उस ही मे स्थिरतासे लीन होना यह ही कर्मोके निर्जरणका उपाय है। सो यह जीव कारण है। कर्म रुके और बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा हुई कि कोई समय ऐसा आयगा कि यह जीव कर्मरहित हो जायगा। इस ही का नाम मोक्ष है।

(१०८) **व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चयसम्यक्त्वका नैकट्य**—ऐसे जीवादिक ७ तत्त्वोका श्रद्धान करना यह व्यव· हार सम्यक्त्व है। देखिये—इतना ऊँचा ज्ञान और इतनी ऊँची रुचि भी चल रही फिर भी इसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है, क्योकि निश्चय सम्यक्त्वमे कोई विकल्प नही, कोई लहर नही आ सकती। कोई स्वच्छता वर्णन करेगा क्या ? मैलका तो वर्णन किया जा सकता, पर स्वच्छताका कोई निरूपण क्या कर

सकता ? एक कमरेको बहुत स्वच्छ कर दिया, झाडकर पानी डालकर खूब मलकर, अब कोई पूछता है कि तुमने कमरेको स्वच्छ कर दिया ? कैसे स्वच्छ किया ? उस स्वच्छताकी बात बतानेको शब्द नही है, किन्तु इस तरह कहा जायगा कि हमने झाडा, कूडा कचरा बाहर निकाला और पानीसे साफ कर कूडा कचरा बिल्कुल धो दिया, इनही शब्दोमे वह स्वच्छताकी बात कह सकेगा। तो ऐसे ही आत्माकी स्वच्छताका नाम सम्यग्दर्शन है। जो विपरीत अभिप्राय चल रहे थे वे सब दूर हो गए तो आत्मामे स्वच्छता आयी। अब उस स्वच्छताका कोई सही सही वर्णन करके तो दिखावे। तो क्या है वह स्वच्छता ? स्वच्छ आशय क्या बन गया ? तो इसका प्ररू-पण 'खोटा आशय न रहा यह कहकर बन पाता है। यह जीव अब तक देहमे आत्मबुद्धि मानता आया था, पर पदार्थ को अपनाता आ रहा था। वे सारे विकल्प अब धुल गए, जीव ऐसा स्वच्छ हो गया। कूडाकरकटका वर्णन करना सरल है, पर स्वच्छताका वर्णन करना कठिन है। कोई स्वच्छताका वर्णन करे तो कूडा करकटका नाम लेकर ही कर पाता है। वहाँ कूडा करकट नही रहा। ऐसे ही सम्यग्दर्शनका स्व-रूप कोई समझाना चाहे तो मिथ्यात्वकी बात कह कर ही समझा पायगा। जैसे अब वहाँ रच भी मिथ्या आशय नही रहा। अब वहाँ परपदार्थविषयक कोई विकल्प नही रहा।

केवल एक स्वच्छ अविकार निज चैतन्यस्वरूपका अनुभव हो रहा। तो यह है जीवादिक ७ तत्त्वोकी बात। इसमे अभी विकल्प चल रहा है। बन तो रही समझ मगर भेद चल रहा है। तो जहाँ भेद हो उपयोगमे वहाँ सम्यक्त्वका अनुभव नही तो यह भेद मिटा और अभेद अन्तस्तत्वका अनुभव बना उससे सम्यग्दर्शन हुआ। तो जीवादिक ७ पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। सो यह व्यवहार सम्यक्त्व है।

(१०६) **भूतार्थविधिसे तत्त्वपरिचयकी निश्चयसम्यक्त्व साधनता**—अब इस सप्ततत्त्वश्रद्धान ही मे और सुधार करियेगा। इन जीवादिक ७ तत्त्वोको भूतार्थ विधिसे जानना सम्यक्त्व है, सो यह भी सम्यक्त्वका साधन है मगर यह बडे निकटका साधन है। भूतार्थसे श्रद्धान करनेके मायने क्या है कि जिस पदार्थमे जो परिणमन चल रहा है उस परिणमनको उस पदार्थसे हुआ निरखे और ऐसा एकत्वकी ओर जायें कि वह परिणमन तो गौण हो जाय और जिससे परिणमन चला वह तत्त्व मुख्य हो जाय। यह कहलाती है भूतार्थकी कला। जैसे निरखा कि ये खोटे भाव जीवमे हुए, ये जीवके परिणमन हो रहे हैं, तो वह जीव क्या है जिसके ये परिणमन हैं, उस पर दृष्टि जायगी ना ? द्रव्यपर दृष्टि जायगी जैसे कोई कहे कि यह लडका इसका लडका है या पूछे कोई

कि यह लडका किसका है, तो बताता है कोई कि यह लडका फलाने चंदका है तो अब लडका गौण हो गया और फलाने चंद उसकी नजरमे मुख्य हो गया। तो इसमे उस लडके से अधिक प्रयोजन नही रहा जितना कि उसके पितासे प्रयोजन पना आया। तो ऐसे ही ये आश्रव परिणाम किसके है ? किससे निकले है ? ऐसे प्रश्नका उत्तर पाने पर यह आश्रव और यह पर्याय गौण हो गई और वह जीवद्रव्य उसके उपयोगमे मुख्य बन गया। अब और आगे चले तो उस जीव द्रव्यका जो सहज स्वरूप है वह सहजस्वरूप मुख्य बना। ऐसे अपने आपके उस मूल एकत्वपर उपयोग जाय तो विकल्प हटते हैं, निर्विकल्प अनुभव बनता है वही सम्यग्दर्शनका प्रथम समय है। तो निश्चयसे सम्यक्त्व क्या रहा ? वह आत्मा ही सम्यक्त्व है, क्योकि अपने आत्माका सहज स्वरूपका, इस अखण्ड अतस्तत्त्वका भेद किए बिना, विकल्प किए बिना, कथन किए बिना, तरंग उठाये बिना एक अलौकिक अनुभूति बनी। वह अनुभूति आत्मा ही तो है। तो निश्चयसे आत्मा ही सम्यक्त्व होता है।

एव जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥२१॥

(११०) मोक्षप्रथम सोपान, रत्नत्रयसार सम्यक्त्वरत्न

को धारण करनेका अनुरोध—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहा गया यह सम्यग्दर्शन रत्न है, इसको हे भव्य जीवो रुचिसे हितकी दृष्टि रखकर बड़े भाव पूर्वक धारण करो, क्यो कि रत्नत्रयमे अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नोमे सार यह सम्यक्त्व है, मूल यह सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व मोक्ष महलमे पहुंचनेके लिए पहली सीढ़ी है। इस सम्यग्दर्शनको अगर बाहरी बातें करके मान लिया, क्रियाकाण्डोमे, पूजा पाठमे और और प्रकारके धार्मिक कर्तव्यों मे इनमे ही मैं ठीक कर रहा हू, मेरेको सम्यक्त्व हो गया और ऐसा ही जिनदर्शनका उपदेश है, वही मैं कर रहा हू, तो मेरेको सम्यक्त्व है, ऐसा सतोष करके कोई रहे तो उसने अभी सम्यक्त्व पाया नही। काम तो ये ही करने होगे जब तक कोई गृहस्थीमे रहे तब तक धर्मके नामपर काम तो यही बनेंगे और सम्यक्त्व हो तो ये ही बनेंगे, न हो तो ये ही बनेंगे, मगर सम्यक्त्व हुए बाद उसकी पद्धति अन्दरमे बदल जायगी। सम्यक्त्व हुए विना तो यह बाहरमे निरख निरख कर यह ही मेरा आधार है। इस ही से हमारा उद्धार है, इस तरहका परकी ओर आकर्षण रहता है। सम्यक्त्व होनेके बाद उसी मूर्तिके दर्शन किए जा रहे है, पर यह प्रभुकी मूर्ति है, एक चैतन्यके विकासका नाम प्रभु है। वह चैतन्यविकास क्या है ? मेरे ही समान चैतन्य है उसका विकास है ऐसा

निरखकर वह अपनी ओर आकर्षित होता है। सहारा सम्य-ग्दृष्टिने भी दर्शन आदिकका ही लिया मगर उसका आकर्षण स्वयकी ओर है और अज्ञानीका आकर्षण परत्वकी ओर है, यह अन्तर आ जाता है। यह ही काम सम्यक्त्व जग जाने पर उसको सही विधिसे होता है, जिसमे आत्मानुभवके अनेक अवकाश आते हैं, इस कारण रत्नत्रयका मूल आधार एक सम्यग्दर्शन है। इस सम्यक्त्वके विना न सम्यग्ज्ञानमे विकास होगा न सम्यक्चारित्र प्राप्त होगा न आत्मामे रम पानेका अवसर मिल पायगा। यह जीव यदि एकबार सर्व परको भूलकर अविकार निज चैतन्यस्वरूपमे अभेद मग्न हो, ज्ञानमें ज्ञान ही समाया हो, जिसमे कोई तरंग न जगे, ऐसी ज्ञानमयी स्थिति पायी हो तो उसका जीवन धन्य होता है। उसने ही मनुष्य जीवनको सफल किया जिसने अपने आत्मस्वभावका अपने आपमे अपने आपके ही द्वारा अखण्ड अनुभव किया, उसके लिए फिर सब रास्ते खुल जाते हैं। यह सारा जगत उसे मायामय नजर आने लगता है। सारा परिकर उसे नीरस हो जाता है और ज्ञानानंद स्वरूप निज अतस्तत्वकी भावना उसके दृढ होती है। तो इस तरह कल्याण मार्गमे चलनेके लिए मूल सहारा सम्यग्दर्शनका है। सो हे भव्य जीव विधि पूर्वक तो व्यवहार सम्यक्त्व बनता हैं, उसका पालन करें और भूतार्थ विधिसे परिचय बनाकर कोई समय ऐसा पा

लेंगे कि निश्चय सम्यक्त्व प्रकट हो जायगा।

जं सक्कइ त कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्त ॥ २२ ॥

(१११) शक्यके आचरणका व वर्तमान अशक्यके श्रद्धान का अनुरोध— इस गाथामे ग्रन्थकार कहता है जितना जो कुछ करनेमे आ सके उतना तो करना चाहिए और जो न किया जा सके उसका श्रद्धान तो होना ही चाहिए। केवली जिनेन्द्र भगवानने बताया है कि जो श्रद्धान रखेगा यथार्थ बात का उसके सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वका फल तो यह है कि उस रूप करना चाहिए। जब एक श्रद्धा हो गई कि यह तो हित है और यह अहित है तो अब इसमे देर तो न करना चाहिये। अहितको छोडें और हितको ग्रहण करें। फिर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि अहितका त्याग नही कर पा रहा और हितमे नही लग पा रहा तो कमसे कम यह श्रद्धा तो होना ही चाहिए कि यह हित है और यह अहित है। श्रद्धा है तो वह सच है और निकट कालमे वह उस काम को कर लेगा। जान लिया ज्ञानी पुरुषने कि जितने विकार भाव हैं वे सब अहितरूप हैं और आत्माकी जो ज्ञानज्योति है, सहज चेतना है, वह है हितरूप, और ऐसी श्रद्धा कर ली है इतने पर भी पूर्व बद्ध कर्मके ऐसे उदय चलते हैं और उनका इस जीवमे ऐसा प्रतिफलन चलता है कि जिस

से ज्ञानस्वभाव मलिन बन गया। वह सही प्रकट नहीं हो पा रहा याने ज्ञाता द्रष्टा नही बन पा रहा और कुछ इन्द्रियके विषयोमे भी लग गया। अहितका परिहार करना चाहिये था मगर न कर सका। हित क्या है ? आत्माका चैतन्य स्वरूप, मगर उसमे नही लग सका तो भी इस ज्ञानीको श्रद्धा तो यह ही है कि ये विषय कषाय अहितरूप है। और जिसको ऐसी श्रद्धा है वह इन विषयोमे अनाशक्त होकर लगता है। उनमें आशक्तिसे वह नही लग पाता। जैसे जिसको यह नही मालूम कि यहाँ आग पड़ी है वह यदि चलेगा तो बडे फोर्ससे चलेगा और जिसको यह मालूम है कि यहाँ आग पडी है मगर हमारे जानेका कोई दूसरा रास्ता नही है, इस पर ही पैर धरकर जाना पडेगा तो वह बड़ी जल्दीसे ढीला सा पैर धरकर आगे बढ जायगा, तो ऐसे ही जिसको ज्ञान नही है, अज्ञानी है वह विषयकषायोमे पूर्ण आशक्तिसे लग जायगा और जिसको ज्ञान है कि ये विषय कषाय अहितकर है वह उन परसे ढोला होकर गुजर जायगा, आशक्त न होगा। भोग भोग रहा है मगर भोगोमे आशक्त नही है, क्योंकि उसको श्रद्धा है, तो जब किया न जा सके जो श्रद्धामे समझा है तो उसको श्रद्धा तो करे।

(११२) यथार्थ श्रद्धानीके सम्यक्त्व और अजरामरस्थान का लाभ—श्रद्धामे आ गया कि जीव अविकार स्वभाव है, इसका विकार स्वरूप ही नही है, यह तो अपने स्वभाव मात्र

है। अपनी सत्तासे यह तो चेतना मात्र है, यह बात उसकी श्रद्धामे आ तो गई मगर उससे ऐसा करते नही बन पाता कि शुद्ध चेतना प्रकट हो जाय, विकारभाव रच भी न आयें, ऐसी दशा तो बडे आत्म पौरुषसे कुछ कालमे बनेगी। गुणस्थानमे वृद्धि हो, क्षपक श्रेणी मारे, चार घातिया कर्म नष्ट हो, आत्म-समाधि बने वहाँ होगी यह दशा। अभी नही हो पा रही है फिर भी श्रद्धा तो रखनी ही चाहिए कि जीवस्वरूप यही है, अविकार स्वभाव यही है। सो आचार्यदेव कहते हैं कि केवली जिनेन्द्र भगवानने यह बताया है कि यथार्थ श्रद्धान जो रखता रहे उसके सम्यक्त्व है तो वह कभी जल्दी पार हो ही जायगा। ऐसे ही एक गाथा और बोलते हैं तत्त्वार्थसूत्रके पाठके अंतमे। वे क्षेपक गाथायें हैं, वहा एक गाथामे यह कहते हैं कि 'ज सक्कइ त कीरइ ज च ण सक्केइ त च सद्दहण, सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरट्ठाण' जितना बने उतना करो, मगर जो न बन सके उसकी श्रद्धा तो रखिये। तो जो यथार्थ तत्त्वका श्रद्धान रखने वाला होगा वह अजर अमर स्थानको प्राप्त करता है। तो कितना ही समय लगे, कितने ही भव लगें किन्तु जिसको सम्यक्त्व हो गया वह अजर अमर पदको प्राप्त करेगा।

दसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था।
एदे दु वदणीया जे गुणवादी गुणधराण ॥२३॥

(११३) दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयोंकी वदनीयता—इस

गाथामे यह बतला रहे हैं कि जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमे स्थित है वह ही पुरुष वंदनीय होता है। वदना गुणकी होती हैं, देहकी वंदना नही है। लोक व्यवहारमे भी लोग कहते हैं कि चाम प्यारा नही किन्तु काम प्यारा है, याने वह कार्य करे, आलसी न हो तो वह घर वालोको प्रिय लगता है। लोक व्यवहारमे भी ऐसा ही देखा जाता है, फिर धार्मिक पद्धतिमे तो चामका कोई मतलब ही नही, केवल एक गुणकी ही दृष्टि है। तो गुणकी पूजा होती है शरीरकी पूजा नही है। शरीरसे कोई मानो निर्ग्रन्थ भेषमे आ गया और है वह मिथ्या-दृष्टि, मूलगुण भी ठीक नही, तो वह वदनीय तो नही कहा जा सकता। वदनीय वही है जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रमे स्थित हो। तो जो चार प्रकारके विनयमे रह रहा हो, दर्शनविनय, ज्ञान-विनय, चारित्रविनय और तपविनय, इन गुणोकी विनय करते हुए इन गुणोके धारी महतोकी विनय करता हो, ऐसा विनय-शील भव्य जीव सराहनीय है, भला है, मोक्षमार्गका रुचिया है, और यह गुणधरोके गुणानुवाद करने वाला है। जो गुणमे चलेगा वह गुणियोके गुणानुवाद करेगा। जो दोषमे रहता है वह दोषियोकी अधिक कथा करता है और गुणियोसे एक ईर्ष्या कहो या विरोध कहो या गुणियोमे दोष निरखनेकी आदत वाला हो जाता है। तो जो गुणी है, जो लोगोके द्वारा नमस्कारके योग्य है ऐसे गुणी पुरुष गुणधरोका गुणानुवाद करने वाले होते

हैं। जो इन श्रेष्ठ गुणोके धारी हैं साधु आचार्य, गणधर और ऊँचे परमेष्ठी भगवान इन सबका गुणानुवाद करने वाले होते हैं।

(११४) सम्यग्दर्शनविनयीकी उदात्तता—सम्यग्दर्शनकी विनय क्या है, विनय कहते हैं उस ओर अपना हृदय झुकाना, समर्पण होना उसकी भलाई ज्ञानमे जचना यह सब विनय होता है, तो सम्यग्दर्शन जो एक भाव है, गुण है इस सम्यग्दर्शन गुणका विनय करने वाले सम्यग्दृष्टि ही होते हैं जिसको जिसकी महिमाका पता नही वह उसके प्रति कैसे झुकेगा ? तो सम्यग्दर्शन विनयके धारी सत जन वदनीय हैं। क्योकि जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसने सम्यक्त्वकी महिमा जाना और वैसा ही दूसरोमे सम्यक्त्व जचा तो वे सब बातें उसमे नजर आने लगती हैं। सर्व बाह्य पदार्थोंसे समस्त औपाधिक भावोसे विरक्त होकर अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमे मग्न होना यह ही एक हितरूप है, ऐसी जिसकी धुन बनी रहती है वह सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शनका विनय करता है और सम्यग्दर्शनके धारकोका जो विनय करना है वह सम्यग्दर्शनका विनय है।

(११५) सम्यग्ज्ञानविनयीकी उदात्तता—ज्ञान ही दुनिया मे एक सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है, जीवकी भलाई ज्ञानसे है, जीवका संकट ज्ञानसे मिटता है। अब लोग अपना संकट मिटानेके लिए जिसने जो सकट समझा है पैसा हमारे पास कम है, यह हो

संकट माना अथवा उससे इससे हमारे पास अधिक नहीं है यह भी एक सकट मान लिया। संकट माननेका है, कुछ भी सकट मान लो। तो ऐसे सकटोको दूर करने के लिए रात दिन बाहरी बातोमे लगे रहना, यहाँ गए वहाँ गए, दूकान गए, लिखा पढी किया, बस वही एक धुन, काम नही है तो भी वही धुन बनी रहती है, ऐसे पुरुषोको जिनवाणीके सुननेका समय भी नही मिलता है, और वे बड़े संकटमे है। जिनको जिनवाणीके पढनेका समय भी नही मिलता, रुचि भी नही होती वे तो बहुत बडे सकटमे हैं। आज पुण्यका उदय है सो खिल रहे है और ज्ञानीजनोकी, सतजनोकी खूब खिल्लियाँ भी उडाते रहते है, लेकिन जो जैसा करेगा वह वैसा फल देखेगा। वे बेचारे बहुत दयाके पात्र हैं जिनको धर्म के वचन सुननेका, मनन करनेका, चिन्तन करनेका, पढनेका समय नही मिलता। समय सब है मगर तृष्णाकी धुन होनेसे जब दिमाग गदा हो गया तो उस दिमागमे धर्मके प्रति प्रेम कैसे आ सकता है ? जिसने ज्ञानकी महिमा नही जाना वह पुरुष तो घोर सकटमे है, दयाका पात्र है। जिसने ज्ञानकी महिमा समझा वह ज्ञानियोके प्रति पूर्ण विनय रखता है। ज्ञानियोके प्रति आकर्षित रहता है। इस जगतमे ज्ञानके सिवाय, मेरे स्वरूपके सिवाय, मेरा और है क्या ? वाहरी पदार्थ चाहे कैसा ही परिणमे उनसे मेरेमे लाभ हानि नही, मेरा ही ज्ञान बिगड़े

तो मेरा नुक्सान और मेरा ही ज्ञान सही रहे तो मेरा लाभ। यहाँ किसकी चिंता करते ? जीव हैं, सब अपनी करतूत के अनुसार संसारमे सुख दुःख पाते हैं। उनमे हम कर ही क्या सकते हैं ? ज्ञानी पुरुषका सही निर्णय है सो भले ही जब गृहस्थीमे है, एक साथ है तो थोडा अपना कर्तव्य निभाता है मगर अतरगमे उसे चिन्ता रच नही होती। चाहे कोई कैसा ही परिणमे, सबका अपना अपना भाग्य है। आज मान ले, इस घरमे न पैदा होकर अन्यत्र कही होते तो उनकी कुछ चर्चा भी थी क्या ? आज घरमे मिल गए सो चर्चा चल रही है, ये मेरे फलाने हैं, ये यो इकट्ठे हैं, लेकिन वे सब भी उतने ही अत्यन्त भिन्न है जितना कि जगतके अन्य सब जीव। उनकी चिंता ज्ञानी पुरुषके चित्तमे नही रहती, एक सम्यग्ज्ञानकी ही महिमा उसके चित्तमे बसी रहती है, ऐसा ज्ञानी पुरुष धन्य है। जिसके ज्ञानमे सम्यग्ज्ञानकी महिमा है और सम्यग्ज्ञानियो का ध्यान है ज्ञानी पुरुषोका हृदयसे विनय करना और ज्ञानभावका अतरगसे विनय करना यह स्थिति बडे सही होनहार वालेको मिलती है। तो जो सत ज्ञानका विनय करता है वह वदनीय है।

(११६) सम्यक्चारित्रविनयीकी उदात्तता—चारित्रविनय, चारित्र तो सबका एक रिजल्ट (फल) है, जैसे कहते हैं कि यह उत्तीर्ण हुआ। जैसे कोई विद्यार्थी पढ़ता है तो मानो

८ महीनेमे उसकी परीक्षा होती है, तो पहले दूसरे महीनेमे जो पढा सो ऐसा ही लिया दिया सा पढता है और ज्यों ही परीक्षा का समय निकट आ आता तो वह बडी तेजीसे अध्ययन करता है और उसको याद रखता, तो आखिर ८वें महीनेमे क्लासका काम पूरा हो गया, ऐसे ही यह है मोक्षकी क्लास। मोक्षकी बात सीख रहे हैं, चिन्तन मनन कर रहे हैं सो पहले साधारण ज्ञान है और जब कुछ समय निकट आया, इसकी श्रद्धा बनी, उसपर तैयारी हुई कि मुझे तो ऐसा करके ही रहना है, अब उसकी प्रगति चली। अहितसे हटनेकी और तेजी हुई और वह अपने ज्ञानमे इस ज्ञानस्वरूपको रखने लगा। जब निकट काल आया तो ज्ञानमे ज्ञान पूर्ण समा गया। अब यह ज्ञान अवि-कार हो गया, अहितसे बिल्कुल छूट गया, पूर्ण हितमय हो गया। यहाँ उसका प्रोग्राम पूरा हो गया, तो जहाँ इसका प्रोग्राम पूरा होगा, मोक्षका प्रोग्राम जहाँ सम्पूर्ण होगा वहा अन्तमे क्या चीज मिलती है? सम्यक्चारित्र। तो सम्यक्चारित्रकी महिमा दिखाया है। यह सम्यक्चारित्र सबसे ऊँची बात है और ऐसे सम्यक्चारित्रको ग्रहण करने वाला, धारण करने वाला और उसमे प्रगति करने वाला सम्यक्चारित्रभावमे अधिक विनय रखता है, यह ही भाव हितरूप है, इससे ही उसके संकट दूर होते है, और सम्यक्चारित्र धारियोके प्रति विनयसे क्या मत-लब? हम तो धर्मका विनय करते हैं, तो जो धर्मात्माओंमे

विनय नही रखता, उनकी उपेक्षा करता है उसमे धर्मकी विनय नही है। ऐसा हो नही सकता कि धर्मके प्रति विनयका भाव आये और जब तक उसको समाधि नही हुई तब तक धर्मात्माओकी उपेक्षा करे, अनादर करे, यह हो नही सकता। तो सम्यक्चारित्रका विनय और सम्यक्चारित्रके धारियोका विनय जो रखता है वह संत नमस्कारके योग्य है।

(११७) तपोविनयीकी वन्द्यता—तपविनयके धारी भी वंदनाके योग्य हैं। तपके प्रति विनयका भाव जगना, १२ प्रकार के जो तप हैं वह एक ऐसी शुद्ध क्रिया है कि जिसको पालते हुए जीवके उपयोगमे विशुद्धि जगती है और ज्ञानस्वरूपके प्रति आदर बढता है, तो तपश्चरण एक प्रायोग्य बात है जिसमे रहते हुए इसकी पर पदार्थोंके प्रति आशक्ति नही रहती। यहाँ एक और मोटी बात समझो कि अगर कोई शारीरिक या अन्य कठिन दुःखमे आया हुआ हो तो उसे विषयोकी कोई प्रीति नही रहती और उसका तो यह ही भाव रहता है कि मेरा यह संकट टले। उसे अन्य आरामकी बात नही सूझती। कोई किसी कारणसे अत्यन्त दु खी हो तो क्या वह इसमे शौक मानेगा कि बढिया शैया हो, हम खूब सोयें, आरामसे रहे ? अरे उसका तो दिमाग ही और कुछ बन गया। यह तो लोक मे देखा जाता, पर लोकमे जो देखा जाता है वह एक यह दु ख पूर्वक देखा जाता है, मगर तपश्चरणके प्रसगमे दु ख भी मह-

सूस नही करता और परपदार्थोंके प्रति उसको प्रीति भी नही जगती। एक विशुद्ध ज्ञान स्वरूपको ही अनुभवनेकी धुन रहती है। तो जो तपश्चरणके प्रति विनयशील हैं वे पुरुष भी हमेशा सराहने योग्य हैं, ऐसे पुरुष वदनीय हैं और वे गुणधारी पुरुषों के गुणोका अनुवाद करने वाले हैं। एक मोटी पहिचान है भले आदमीकी कि जो गुरिणयोके गुण बखाने वह भला आदमी है और जो गुरिणयोके दोष बखाने वह खोटा आदमी है। यह भले खोटेकी पहिचान है। अगर किसीमे गुणियोके दोष बखाननेकी आदत है। तो वह तो खोटा है ही, क्योकि उसके उपयोगमे दोष ही दोष समा रहे हैं इसलिए वह दोष बोल रहा है। तो जो उच्च पुरुष हैं वे बदनीय हैं, वे गुणधारियोके गुणोका वर्णन किया करते हैं।

सहजुप्पण्णं रूवं दुट्ठं जो मण्णएण मच्छरिओ।
सो सजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥२४॥

(११८) यथाजातरूप निर्ग्रन्थ साधुको देखकर आदर न करने वालों व मात्सर्य रखने वालोकी मिथ्यादृष्टिता—जो पुरुष यथाजातरूप निर्ग्रन्थ भेष, निरारम्भ, निष्परिग्रह गुरुवो के रूपको देखकर उनका आदर नही करता बल्कि उनसे मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष रखता है वह पुरुष चाहे महाव्रत पालता हो, संयम धारण करता हो और कुछ इस अहकारमे उस संयमके योग्य बाहरी चेष्टायें भी करे तो भी वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी

ही है । साधुका रूप सहज उत्पन्न रूप होता है । जैसे कोई बालक उत्पन्न हुआ तो उसका क्या रूप है, न उसके शरीर पर वस्त्र हैं न आभूषण, केवल शरीर मात्र है, ऐसे ही जो जो शरीर रहित आत्माकी सुध व उपासना करते है वे तो उपयोगमे शरीर वाले भी नही हैं, पर शरीर जाय कहाँ ? रहेगा तो शरीर । तो उनका भेष केवल शरीर मात्र है, उस पर किसी दूसरी चीजका प्रसग नही, सहज उत्पन्न रूप है, ऐसे रूपको देखकर जिसमे आदर बुद्धि न जगे कि मोक्षमार्ग तो यही है, तीर्थंकरोने इसी मार्गको अपनाया था, तो आदर तो करे नही किन्तु मात्सर्य भाव रखे, अहकार रखे, उससे द्वेष रखे और माने कि अच्छा तो मैं हू । देखो मैं कैसा शोभा वाला हूं, मैंने कितनी बढिया चद्दर पहिन रखा है जैसी कि अन्य गृहस्थोके पास भी न होगी । कैसा बढिया डिजाइन बनाकर कधेपर रखा है, ऐसा तो कोई बगाली भी न रखता होगा, यो एक चित्तमे अहकार रखना और निर्ग्रन्थ यथाजात रूपको देख कर मात्सर्य रखना ऐसा जो पुरुष व्यवहार करता है, उसने चाहे सयम पाल रखा हो तो भी वह मिथ्यादृष्टि है । निर्ग्रन्थ भेषके प्रति जिसको अरुचि हो वह चाहे कितना ही सयमकी बात कहे तो भी वह प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है । और कदाचित् निर्ग्रन्थ भेष वाला साधु ही कोई अन्य निर्ग्रन्थ साधुका आदर न करे, बल्कि अन्य साधुवोसे ईर्ष्या रखे, तो भले ही

उसने संयमका प्रतिपादन किया है लेकिन वह मिथ्यादृष्टि है। है। भले ही आगममे बताया है कि जो पहलेसे दीक्षित हो उसको बंदना करे नवदीक्षित या यह बात एक कर्तव्यके नाते से बताया मगर पहले दीक्षित पुरुष भी यह हिसाब चित्तमे न रखे कि मैंने पहले दीक्षाली है, इसने बादमें दीक्षा ली है, यह मुझे पहले बदना करे, अगर ऐसी भावना जगे उस पहलेके दीक्षित पुरुषमे तो वह तो अपने पदसे गया। कर्तव्यमे तो है अन्य नवदीक्षित पहले वालेको वंदना करे मगर पहलेका दीक्षित यह न सोचे कि यह नवदीक्षित मेरी बदना करे। वह तो उस नवदीक्षितका आदर ही करेगा, धन्य है यह स्वरूप। कभी-कभी आप लोगोने देखा होगा कि कोई कोई बडे पुरुष भी अपनेसे छोटे लोगोंसे पहले ही जयजिनेन्द्र करते है। वे यह नही सोचते कि ये छोटे लोग है। तो सयमधारियोके प्रति भीतरमे विनय होना यह है कल्याणका मार्ग।

अमराण बदियाणं रूव दट्ठूण सीलसहियाणं।
जे गारव करति य सम्मत्तविवज्जिया होति ॥२५॥

(११९) अमरवंदित यथाजातरूपको देखकर गारव करने वालोकी सम्यक्त्ववर्जितता—इस मनुष्यभवमे ऊँचा पद तो अरहत भगवानका है, पर अरहत भगवानके वाद मुनियो का पद है। यह मुनियोका रूप यथाजात रूप है। जैसे—उत्पन्न हुआ बालक शरीर मात्र है ऐसे ही साधुके भी वह

शरीर मात्र है, और यह साधुपद देवो और इन्द्रोके द्वारा भी वंदनीय है। सांसारिक सुखोकी दृष्टिसे देव बहुत ऊँचे हैं। उनको श्वास पखवाडेमे एक बार लेनी होती है। जिसको जितनी जल्दी श्वांस होती है वह तो बीमार माना जाता है, किसीको श्वांस आधा मिनटमे आता है मनुष्योमे, किसीको पौन मिनटमे। देवोका श्वांस किसीको १५ दिनमे, किसीको तीन पखवारेमे, किसीको दो पखवारेमे एक बार श्वांस लेना होता है। इसीसे अन्दाज कर लो कि देवोमे कितना सांसारिक सुख है। और भूख प्यासकी वेदना तो हजार-हजार वर्षमे होती है। तो जैसे ही भूखकी वेदना हुई कि कठसे अमृत झड़ जाता है। वह अमृत क्या है ? जैसे हम आपका थूक है वैसा ही उनका भी कुछ है। तो इस दृष्टिसे भी देखें तो देवगतिमे सांसारिक सुख विशेष हैं। उनको कोई धधा नही करना पडता। वे खाली रहते हैं। तो जो अच्छे देव है वे धर्मचर्चा मे अपना समय बिताते हैं और जो खोटे देव हैं वे ऊधमबाजी मे अपना समय बिताते हैं। सांसारिक सुखोकी दृष्टिसे देवोमे बहुत सुख है और इन्द्रोकी जिनकी सबपर हुकूमत चलती है ऐसे देव और इन्द्रके द्वारा भी वदनीक है साधुपद, मगर साधु साधु होना चाहिए। अत्यन्त विरक्त। न किसीसे राग, न किसी से द्वेष, न हँसी, कोई प्रकारका उनमे विकार नही होता, क्योंकि अरहतके बादका स्थान है। इसीलिए तो बताया है

कि जो साधुपद रख ले और आत्मामे योग्य नही है तो वह मरकर लूला गूंगा होता है अथवा मरकर नरक निगोदमे जाता है। जैसे पंचम कालमे कितने करोड़ मुनि निर्ग्रन्थ नरक मे जाते हैं और केवल वे ही नही जाते, उन मुनियोके माननेवाले श्रावक भी नरकमे जाते है, ऐसा आगमका वचन है।

(१२०) **शीलसहित यथाजातरूपका महत्त्व और उसका अनादर करने वालोंका पतन**—जो अरहतके बादका (पूर्वका) पद है वह तो बहुत निर्विकार निर्दोष होना चाहिए। उस पदमे निरन्तर आत्मदृष्टि है। जैसे बच्चोको निरन्तर खेल ही रुचता है, वे बडी मुश्किलमे भोजन करते है उन्हे जबरदस्ती भोजन कराया जाता। कुछ पेटमे खाना गया कि भूखे ही खेल खेलने लगते है, ऐसे ही मुनियोका आत्मामे ही ध्यान है, रुचि है, बहुत तेज भूख लगी तो यह ज्ञान विवेक ही उसे समझाता है कि अरे उठा लो, खा लो नही तो वे इतना विरक्त हैं कि भूख होनेपर भी खाना उन्हे रुचता नही। उनको रुचता है आत्मध्यान, चर्चा करेंगे तो आत्माकी। दूसरी कोई चर्चा नही। असंयमी जनोसे वार्ता भी नही करते। निषेध किया गया है, वे आपसमे ही धर्मवार्ता करते हैं। और असयमी जनोसे सिर्फ उसी समय बात करनेकी आज्ञा है जब कि कोई विपत्ति पडी हो। कोई साधु मर गया हो या कोई बात हो तो असंयमी जनोसे बात करेंगे। नही तो वार्तालाप भी नही

है। ऐसे आत्मस्वरूपमे रहने वाले योगी, उसका पद है अर- हंतके बादका पद। याने तीसरा पद। सो ऐसे मुनिजन देवो के द्वारा वन्दनीय हैं। अब उनके स्वरूपको देखकर जो मुनि शील सहित हैं, अपने आत्माके स्वभावमे जिनकी निरन्तर दृष्टि रहती है ऐसे यथाजातरूप निर्ग्रन्थ साधुके रूपको देखकर जो मनुष्य घमण्ड करता है, अविनय करता है वह पुरुष सम्य- क्त्वसे रहित होता है। यदि कोई साधु भी अन्य साधुवोका आदर न करें तो वह भी सम्यक्त्वरहित हो जाता। गृहस्थ भी हो, साधुका आदर न करे तो वह भी सम्यक्त्वरहित हो जाता है। अगर हो तो गया हो कोई बाह्य भेषमे साधु, किन्तु भीतरमे न आत्मध्यान है, न आत्मसयम है तो ऐसे साधु वन्द- नीय नही होते। इस बातको अब अगली गाथामे बताते हैं।

असंजद ग बदे वच्छविहीणोवि तो ण बंदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥

(१२१) भावसयमरहित वस्त्रविहीनको भी असंयमकी तरह अवन्द्यता—जो सयमरहित पुरुष है, गृहस्थ है वह तो वन्दनीय नहीं है, यह तो बात सही है मगर वस्त्ररहित होकर भी उसके सम्यक्त्व नही, सयम नही, आत्मदृष्टि नही तो वह भी वन्दनाके योग्य नही है, क्योंकि असंयमी गृहस्थ और सम्यक्त्वरहित सयमरहित वस्त्रविहीन भी साधु हो तो वे दोनो एक बराबर हैं। भीतरके परिणामोको देखो—इसके

भी यदि सम्यग्दृष्टि है तो सम्यक्त्व है और उस मुनिको भी सम्यक्त्व है। और सम्यक्त्वविहीन गृहस्थ भी है, सम्यक्त्व-विहीन मुनि भी है। कर्मबन्ध होता है तो कर्मबन्ध इस तरह नही डरता कि यह नग्न हो गया तो यहा कर्म न बँधें। वहाँ तो कषायके साथ निमित्तनैमित्तिक योग है, मोह और अज्ञान के साथ निमित्तनैमित्तिक योग है, जहाँ मोह और कषायभाव हुआ वहाँ कर्मबन्ध होता है। तो यह गृहस्थभेषमे है वह तो असयमी है ही मगर नग्न रूप धारण कर लिया हो और अन्तरंगमे भावसंयम नही है तो वह भी असंयमी ही कहला-यगा। ये दोनोके दोनों असयमी हैं इस कारण ये दोनो ही वन्दन करनेके योग्य नही हैं। जैसे गृहस्थ पूज्य नही है ऐसे ही सयमरहित मुनि भी पूज्य नही है। अब इस प्रकरणमें यथाजात रूपकी चर्चा चली आ रही है कि जो यथाजात रूप हो याने उत्पन्न हुए बालककी तरह केवल शरीर मात्र हो तो उससे यह न समझना कि वह साधु परमेष्ठी हो गया। यथा-जात रूपके मायने यह है कि जैसा आत्माका स्वभाव है उस तरहकी दृष्टि और आचरण भी होवे तो यथाजात रूप कह-लाता है। भीतरी भाव सयम बिना बाहरसे नग्न होनेसे कुछ सयमी हो जाता हो, ऐसी बात नही है, क्योकि बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था बाहरी भेषसे नही है, किन्तु कषाय हो या कषाय न हो उससे बन्ध मोक्ष की व्यवस्था है। तो यहाँ एक

प्रश्न ऐसा आ सकता है कि यह तो पहिचान होना बडा कठिन है कि इस साधुके भावसंयम है या नही है। तब कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए? तो उस सम्बन्धमे स्पष्ट उत्तर है कि प्रथम देखते ही तो वह वन्दनके योग्य है जिसके चाल चलने का कुछ परिचय नही है। और प्रथम बार ही दर्शन हुआ है तो वह वन्दनके योग्य है, और यदि उसका कपट मालूम पड जाय, कपट क्या? पुजवानेके लिए या अपने आरामके लिए ही अनेक साधु बन जाते हैं। और साधु होकर स्वच्छन्द हृदय वाले जैसे गृहस्थोंकी चर्या अधिक बोलना, जिस चाहेसे बोलना आदिक जो गृहस्थो जैसी चर्या है वह दिखती हो तो फिर वह वन्दनके योग्य नही है, पर जब तक उसकी भीतरी मायाका पता न पडे तब तक तो वह वन्दनाके योग्य है, अन्यथा किसी मे भी शक बनाकर, अच्छे आचरणसे चलता हो और शक बना ली जाय, ऐसी तीर्थप्रवृत्ति नही हो सकती, इस कारण उत्थानके लिए तो भावसयम और उसके साधनके लिए द्रव्य सयम हुआ करता है, पर मालूम हो जाय कि यह अज्ञानी है, अबोध है तो ऐसा विदित होनेपर वह साधु वन्दना किए जाने लायक नही रहता।

णवि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसजुत्तो।
को वदामि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥२७॥

(१२२) देहकी अवन्द्यता—प्रत्येक साधु जो नग्न है वह

(१२३) **कुल और जातिकी अवन्द्यता**--देहकी भाँति कुल भी वदनीय नही है। कोई पुरुष उत्तम कुलमे पैदा हो गया तो उससे वह बडा थोडे ही कहलाने लगा। ऊँचे कुलमे तो पैदा हो ले और आचरण नीचा रखे तो वह पुरुष वदनीय है क्या ? मोक्षमार्गमे जो आत्मा चल रहा है वह वदनीय है। यदि रत्नत्रय नही है तो बडा कुल होनेसे भी वदनीक नही कहलाता। कोई उत्तम जातिमे है, जाति होती है माताके पक्ष से और कुल रहता है पिताके पक्षसे। वैसे तो मुख्य कुल है मगर माताके पक्षका जैसा स्वभाव है वह भी सतानमे आ लेता है कभी। जैसे कभी कहते है ना कि इसका आकार तो इसके नाना जैसा है, मामा जैसा है, और किसीको कहते है कि इसका आकार इसके दादा बाबा जैसा है, तो बच्चेमे सस्कार दोनो ओरके पड सकते है, इस कारण दोनोकी बात कही जा रही है। कोई उत्तम जातिमे उत्पन्न हुआ हो याने अच्छे घर की लडकी हो, वही जिसकी माँ हो तो उससे भी क्या होता है ? यदि रत्नत्रय नही है तो जाति तो पूज्य नही हो जाती।

(१२४) **गुणहीन साधुकी अवन्द्यता**--

तात्पर्य यह है कि गुणहीन साधु वदनाके योग्य नही है। और गुणहीन साधु है ऐसा कोई जान ले और फिर भी उसका वदन करे तो उस श्रावकको भी अपराध

है, और साधु अगर ऐसा चाहे कि मुझको ये लोग वंदना करें तो साधुका तो वह बहुत बडा अपराध है, जिसके मनमे यह भावना जगे कि मुझको ये नमस्कार करें तो निश्चित समझ लो कि वह साधु ही नही है, क्योकि साधु होते हैं दो किस्म के। (१) अच्छे ज्ञानी और (२) ज्ञानी। ज्ञानीके तो कभी यह भावना जगेगी ही नही कि मुझे कोई नमस्कार करे और जिसके भावना जगी समझो कि वह नियमसे अज्ञानी है। तो जो दूसरोंसे बदन चाहे वह भी दुर्गतिका पात्र है और अज्ञानी कुशील साधु हो और जान ले कोई और फिर उसका बदन करे तो वह श्रावक भी दुर्गतिमे जाता है, इस कारणसे गुणका विवेक करना दोनोको आवश्यक है। गुणहीन साधु बदनाके योग्य नही है। अगर कोई गुणहीन साधु है, सम्यक्त्वरहित, भावसयमरहित कोई साधु बन गया है तो वह साधु न तो श्रावक रहा और न साधु रहा। ऐसा साधु तो श्रावक से भी गया बीता है। श्रावक तो थोडा मोक्षमार्गमे लग भी सकेगा मगर वह साधु मोक्षमार्गमे रच भी नहीं है। जिस के सम्यक्त्व नही, भावसयम नही और उद्दण्डताके विचार है, लोकमे पुजनेके लिए हो गया है वह साधु श्रावकसे भी निम्न दशामे है। सो प्रकरणमे जो बताया कि साधुके यथाजात रूप देखकर जो आदर न करे वह पुरुष सम्यक्त्व हीन कहलाता है। मगर यथाजात रूप क्या है वह इन दोनो गाथाओमे स्पष्ट

किया है। जिसके विकार न जगे, सम्यक्त्व बना रहे, आत्म-दृष्टि रहे, केवल आत्मकल्याणकी भावनासे ही जो साधु हुआ हो वह है यथाजात रूप धारी साधु और सयमरहित सम्यक्त्व-रहित गुणहीन साधु न तो साधु ही रहा और न श्रावक ही रहा।

बदमि तवसावण्णा सील च वंभचेरं च।
सिद्धिगमणं च तेसि सम्मत्तेण सुद्धभावेण ॥२८॥

(१२५) **तपःश्रमणोंको बंदना**—अब साधुके सबधमे बहुत कुछ वर्णन करनेके बाद उपसहार रूपसे आचार्यदेव इस गाथामे कहते हैं कि जो तपसे सहित मुनि है उनको मैं बदना करता हू। और उनके मैं शीलकी बदना करता हू, उनके गुणो की बदना करता हू, और जो इस प्रकार सम्यक्त्वसहित शुद्ध भावसे बदना करता है साधु परमेष्ठीको, वह निर्वाणको पायगा, और जो साधु परमेष्ठी तप, शील, गुण, ब्रह्मचर्यसे युक्त है वे भी निर्वाणको पायेंगे। तप १२ प्रकारके बताये गए हैं— ६ बाह्य तप और ६ अंतरंग तप। जिन तपोमे मुख्यता पर पदार्थ के सयोग वियोगकी होती है वे तप बाह्य बहलाते हैं। और जिन तपोमे मुख्यता आत्माके परिणामोकी ही होती है वे अत-रङ्ग तप कहलाते हैं। सो बाह्य तप और अतरग तपसे सहित जो साधुजन हैं उनको मैं बदना करता हूं, उनके तपश्चरणको भी बदना करता हू। तप है इच्छा निरोधका नाम। इच्छावो

का रोकना सही मायनेमे सम्यग्दृष्टि ज्ञानीके ही बन सकता है। वैसे अज्ञानी भी इच्छाओको रोकता है मगर वह रोकता नही है किन्तु दबाता है। जिसको यह बोध हो कि इच्छा औपाधिक परिणति है, कर्मोंके उदयसे होने वाला विकार है इस इच्छासे मेरा सबध क्या ? मैं तो इससे निराला केवल ज्ञाता द्रष्टा हू, ऐसी जिनको सुध है उन्होने भीतरसे ही इन इच्छाओ को मिटाया, इच्छावोकी जड दूर कर दिया और जिसको इस अतरग तथ्यका पता नही सो भले ही कुछ बाह्य ज्ञानके कारण उपवास करे, गर्मीमे तपश्चरण करे, किसी भी प्रकारका कायक्लेश करे उसकी इच्छायें मूलसे नही मिटी किन्तु इच्छायें दब गई। इच्छाओको दूर किया है, धर्ममार्गमे चलनेके लिए कदम यहाँसे उठाना चाहिए। मैं आत्मा केवल एक चैतन्यस्वरूप मात्र हू, जिसका किसी दूसरी वस्तुसे रच भी सबध नही है। सत्ता ही न्यारी न्यारी है, सबंध कैसे ? और, कर्मोके उदयसे होने वाली जो मेरेमें मायाकी छाया है, विभावो का प्रतिफलन है, कर्मरसकी फोटो है वह भी मेरा स्वरूप नही है। वह औपाधिक है, उससे भी मैं निराला हू, ऐसी जिसको श्रद्धा है वही पुरुष इच्छाओंको मूलसे नष्ट कर पाता है। तो इच्छा निरोध नामक तप सम्यग्दृष्टिके, अविकार आत्मस्वभावके अभ्यासीके इस भगवत आत्माकी उपासनामें ही जिनकी धुन लगी हो उन के ही यह तपश्चरण हो पाता है। तो सही मायनेमे जिनको

तप हुआ है ऐसे साधुवो की मैं बदना करता हूं।

(१२६) **शीलगुणवान आत्मरत साधुवोंको बन्दना**—शीलवंत साधुवो की मैं बंदना करता हू। शील मायने उत्तर गुण जैसे मूल गुण २८ हैं, उनमे कही यह नही आया कि गर्मी मे पहाड पर बैठ कर ध्यान लगाओ, ये बातें मूल गुणमे नही है वे उत्तर गुणो मे भी प्रवीण रहते हैं। तो शील मायने उत्तर गुण। रात्रिपद्मयोग। रात्रिभर खड़े रहे या पद्मासनसे खडे रहे, निद्रा न लें, लेटें नही, यह भी एक साधुवोका चारित्र है, मगर यह मूल गुणमे नही है। मूल गुण न हो तो साधुता नही रहती, उत्तर गुण न हो तो वह उनकी प्रगतिकी कमी है मगर साधुपना नही मिटता। तो जो साधु शीलमे भी वढ़े है, उत्तर गुणोमे भी बृद्ध हैं, बढे चढ़े है उनको मैं बदन करता हू, और गुणके मायने मूल गुण। साधुके जो २८ मूल गुण बताये है–५ महाव्रत, ५ समिनि, ६ आवश्यक, ५ इन्द्रियका विजय और वस्त्र त्यागना, केशलोच करना, एक बार भोजन होना, खडे खडे भोजन होना, दतमंजन न करना, स्नान न करना, भूमि पर सोना आदि ये सब मूल गुण कहलाते हैं। इनके बिना साधुता नही रहती। तो ऐसे मूल गुणोसे युक्त साधुवोको मैं शुद्ध भावोंसे बदना करता हू। ब्रह्मचर्य युक्त साधुवोकी मैं वदना करता हूँ। ब्रह्मचर्यके मायने आत्मस्वरूपमें रम जाना। जिसे आत्मतत्त्वका अनुभव हुआ वह ही पुरुष तो उसमे रम सकता।

तो यह भगवान आत्मा ही जिसकी दृष्टिमे सतत रहता है वह कहलाता है ब्रह्मचर्यधारी । यहाँ सामान्य ब्रह्मचर्यकी बात नहीं कह रहे, वह तो होता ही है, मगर आत्मामे मग्न हो जाय, ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, यह स्थिति आये, ऐसे ब्रह्मचर्यधारी साधुवो को शुद्ध भावसे मैं वंदन करता हू ।

चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहि संजुत्तो ।
अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्तो ॥२९॥

इससे पूर्व गाथामे वदनाका प्रकरण था, उसी वदनासे सबधित यह गाथा कही जा रही है । तीर्थंकर देव भी वदनीय है । तीर्थंकर देव तो मुख्यतया वदनीय है, पर मिलते तो नही रोज-रोज, इसलिए साधुवो का पहले वर्णन किया । तीर्थंकर देवके पुण्यके उदाहरण हैं । तीर्थंकर भगवानसे बढकर पुण्य किसीका नही माना गया । यद्यपि वह पुण्य मोक्षका साधन नही है । मोक्षका साधन तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र है, पर जो धर्ममार्गमे चलता है उसके विशेष पुण्य हुआ ही करता है । तीर्थंकर तो वास्तवमे १३ वें गुणस्थानसे कह-लाते हैं । जब गर्भमे हुए, जन्म हुआ, मुनि हुए तब तक वे तीर्थंकर नही, जब उन्हे केवलज्ञान होता है तबसे तीर्थंकर कह-लाते हैं, फिर भी चूकि मालूम है कि यह तीर्थंकर होगे इस कारण उनको गर्भसे ही तीर्थंकर मानते है । अब तीर्थंकर गर्भ मे आये, तीर्थंकर तो भगवान परमात्मा कहलाते हैं, वह क्या

गर्भमे आते हैं, मगर जो जीव तीर्थंकर होगा उसे पहलेसे ही तीर्थंकर कहते हैं, जैसे किसी राजाका पुत्र है, राजगद्दी मिलना उसे निश्चित है तो बचपनसे ही उसे लोग राजा कहने लगते ऐसे ही तीर्थंकर प्रकृतिका उदय १३ वें गुणस्थानमे होता है और जहां तीर्थंकर प्रकृतिका उदय हुआ वहांसे तीर्थंकर कहा जाना चाहिए, पर इन्द्रोने तो जन्मसे पहले ही समझ लिया था कि यह जीव तीर्थंकर होगा तब ही तो गर्भके ६ महीने पहले रत्नवर्षा करायी। तो जिसके प्रति यह निर्णय है कि यह तीर्थंकर होगा उसको अभीसे ही तीर्थंकर कह गया है। तो तीर्थंकर प्रकृतिका जब उदय है केवलज्ञानी हैं उस समय उनका क्या वैभव होता है ? ६४ चमरसे युक्त होते है, ६४ चमर ढोरते हैं। अब उनके चमर देवोपुनीत सही पवित्र होते यक्ष हैं। अब वे चमर तो यहां है नही, और चमर तो होने ही चाहियें न ? तो काहेके बनाये जायें ? चादी सोनेके, तारके, गोटेके या अन्य चीजके, मगर गायकी पूंछ काटकर चमर बनाना यह जैनशासनमे युक्त बात नही है। चमरी गायकी पूछ होती है ऐसी जिसकी चमर बनी है। उसमे क्या दोष है ? एक तो गायकी पूछ काटकर ही लायी गई, वह चमर उसके बिना कैसे बने ? एक तो वह हिंसा, और दूसरे उसकी डडी जहासे भी चली है वहां चामका सम्बन्ध है, चाम भी है और हड्डी भी है नीचे। तीसरे—उसके बाल इतने कड़े होते

हैं कि जिस मक्खी या चीटा चीटी आदि जीवके ऊपर जोरसे पड जाय तो वह कट सकती है। तो ऐसा चमर बिल्कुल अयोग्य है जैनशासनमे। जैनशासनमे तो अहिंसाप्रधान क्रिया होनी चाहिए। अब भगवानके शृङ्गारमे या उनकी विभूतिकी यादमे गोटा या चांदीके तारके या और किस्मके चमर बना लेना चाहिए। तो ऐसे ६४ यक्ष चमर ढोरते हैं भगवानके। और वे ३४ अतिशय करके युक्त हैं। ३४ अतिशय क्या हैं? १० तो जन्मके अतिशय—जब तीर्थंकरका जन्म होता है तो जन्मसे ही उनकी १० बातें अलौकिक होती हैं जो कि सबमे नही पायी जाती। वह अभी तीर्थंकर नही हुए, मगर तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता है। मनुष्य हैं और इसी भवमे तीर्थंकर प्रकृति का उदय आयगा, ऐसी निकटता होनेसे और विशेष पुण्य होने से जन्मते ही उनमे १० अपूर्व बातें होती हैं। वे क्या हैं १० बातें? एक तो उनका बडा सुन्दररूप जो मनोज्ञ है, सर्व जनोको प्रिय है। दूसरा—उनके शरीरसे सुगन्धका होना। शरीर है तो गन्ध तो अवश्य होती है और प्राय. करके चूकि खून, चाम, हड्डी हैं, भले ही वे जीवित दशामे हैं फिर भी उसमे गध तो बुरी होगी ही, लेकिन तीर्थंकरके शरीरमे बुरी गध नही और सुगन्ध है, जहां वे विराजे हो तो आस-पासका वातावरण सुगन्धमय हो जाता है, और पसेव और निहार भी नही है। पसीना भी नही आता तीर्थंकरके शरीरमे, निहार

मल-मूत्र भी नही, उनका अल्प भोजन और रसका भोजन है और उनमे ऐसा अद्भुत बल होता कि वह सब रसरूप बन जाता है।

अभी यहाँ भी अनेक लोग ऐसे भी मिलते हैं जो खाते पीते तो रोज-रोज हैं मगर शौच तीन चार दिनमे जाते हैं। तो उनकी जठराग्नि इतनी पुष्ट होती है कि प्राय वह रस बन जाता, भस्म हो जाता है। तो तीर्थंकर देवके तो ऐसी उत्कृष्ट अग्नि है कि भस्म हो जाता है। उनके वचन हित, मित, प्रिय निकलते हैं, वे तो महान् आत्मा है, महापुरुष है। महापुरुषो के वचन खोटे तुच्छ अपमान भरे नही निकला करते। अभी यहा ही देख लो, अगर कोई महापुरुष किसी छोटे आदमीको कुछ समझा रहा है और उसकी समझमे नही आ रहा तो वह यो कहेगा कि भाई हम तुमको समझा नही सकते। आम रिवाज तो यो हैं कि तुम्हे कुछ समझ ही नही आती, तुम्हारा दिमाग खराब है, हम इतना समझाते हैं, पर तुम्हारे दिमागमे ही नही बैठता, और अधिक गुस्सा होवें तो कहते कि तुम्हारे दिमागमे भुस भरा है, मगर कोई बडा आदमी कहेगा तो यो कहेगा कि भाई हम तुम्हे समझा नही सके याने हमारी गल्ती है, हम उसका पूरा ढंग नही जानते हैं जो हम आपको समझा सकें। तो तीर्थंकर तो एक महान् विभूति है, उनके वचन अप्रिय और अहितके नही निकलते। ऐसे पुरुषोको सबपर

क्षमाभाव रहता है। और दयाकी बुद्धि रहती है उनका एक अतिशय है अतुल्य बल। उनके समान बल यहाँ किसीमे नही पाया जाता।

(१२७) तीर्थंकरोंके अतुल्य बल सम्बधी एक दृष्टान्त— एक बारका कथानक है कि तीर्थंकर नेमिनाथ और श्रीकृष्ण भाई-भाई थे। नेमिनाथ तो छोटे थे और श्रीकृष्ण बड़े थे, मगर श्रीकृष्णको यह सन्देह हो गया था कि यह नेमिनाथ बडा बलवान पुरुष है, इसके रहते हुए हमारा राज्यपर प्रभुत्व न रहेगा तो उसे कुछ चेतावनी देनेके लिए श्रीकृष्णने एक अद्भुत शखका नाद किया। अब नेमिनाथ तो थे अवधिज्ञानी जन्मसे ही, सो उन्होंने सब हाल समझ लिया कि हमारे भाई श्रीकृष्णको कुछ घमण्ड आ गया है सो वहाँ एक बहुत बडी सभा तो लगी ही थी। श्रीकृष्ण भी वही मौजूद थे। तो वहाँ नेमिनाथने कहा सभीसे कि अब सभी लोग अपने-अपने शरीरके बलकी बात बैंठे बैंठे दिखाओ, तो किसीने नेमिनाथका हाथ मरोडा, किसीने कुछ, किसीने कुछ, नेमिनाथ बोले कि तुममेसे कोई हमारी सबसे छोटी अगुली (छिगुली) जो मरोड सकता हो वह मरोड दे। तो अब देखो सभी अंगुलियोकी अपेक्षा छिगुलीमे कम बल होता है, वह आसानीसे मुड जाती है। वहाँ नेमिनाथकी छिगुली मरोड सकनेमे सभी लोग असमर्थ रहे, और जब श्रीकृष्ण

मरोडने लगे तो वह तो उसीमे लटक गये फिर भी न मरोड सके। तो यहाँ अतुल्य बलकी बात कह रहे कि तीर्थंकरोमे अतुल्य बल होता है, और वह नेमिनाथ दयालु इतने थे कि जब षडयन्त्र रचा गया श्रीकृष्णके द्वारा कि नेमिनाथको वैराग्य हो जाय, नही तो इसके रहते हुए हमको राज्य भोगनेमे अनेक विघ्न आयेंगे, तो नेमिनाथका जब विवाह था तो श्रीकृष्णने बहुतसे पशुओको एक जालके अन्दर बन्द करवा रखा था और सारथीसे कह दिया था कि जब नेमिनाथ इन पशुओ वाले स्थानपर पहुचे तो यहाँ रथ रोक देना। नेमिनाथ वह दृश्य देखकर कुछ तो पूछेगा कि ये पशु इसके अन्दर क्यो भरे हैं…। और कहा कि उसके पूछनेपर तुम यह भी कह देना कि ये पशु तुम्हारे साथके बरातियोको, अतिथियोको भोजनमे माँस खिलानेके लिए बँधे हैं। देखिये—वहाँ इस तरहका एक षड-यंत्र रचा गया। आखिर नेमिनाथने विवाहके लिए जाते समय मार्गमे जब वह दृश्य देखा तो उन पशुओका चीत्कार सुनकर सीधे ही गिरिनार पर्वतपर चले गए। इतनी अद्भुत करुणा थी जीवोके प्रति। तो तीर्थंकरोमे अतुल्य बल होता है।

(१२८) **तीर्थंकरोंके शरीरके रक्त सम्बधी अतिशय**—एक अतिशय यह है कि उनके शरीरका खून दूधके समान सफेद होता है। अब भी हम आपमे दोनो रंगके खून है।

सफेद भी और लाल भी। जब लाल खून मात्रासे अधिक हो जाता है तो मनुष्य कठिन बीमार हो जाता है, और सफेद खूनमे सामर्थ्य और निर्दोषता अधिक है। तो तीर्थंकरोके तो सारे शरीरका खून सफेद होता है। क्यो सफेद है कि दोनो खूनोमे सफेद खून उत्कृष्ट होता है। एक कविने अलकारमे तो यह बतलाया कि जब माँ के बच्चा होता है तो जब बच्चेपर माँ के हृदयमे प्रेम उमडता है तो मा के दूध पैदा हो जाता है, वह मां एक बच्चेके प्यारमे दूध वाली बन जाती है तो फिर तीर्थंकरको तो तीनो लोकके जीवोपर प्यार है, फिर उनके सारे शरीरका रुधिर श्वेत हो गया तो इसमे क्या आश्चर्य? उनके अङ्गमे १०००८ लक्षण होते हैं। लक्षण मायने उत्तम चिन्ह, तिल, रेखायें या उनके निशान, ये सब १००८ लक्षण होते हैं और उनका संस्थान समचतुरस्रसस्थान होता है। १००८ लक्षणकी बात कह रहे। चूँकि उनके शरीरमे १००८ लक्षण होते हैं इसलिए भगदानको श्री १००८ लिखते हैं मायने १००८ बार श्री हम बोल रहे और गुरुवोको, मुनियो को श्री १०८ लिखते हैं, उसका अर्थ है कि मुनियोके १०८ पापोका त्याग है। पाप १०८ प्रकारके होवे है---समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ। किसी पापके कार्यका विचार करना यह समरम्भ पाप है, उम कार्यके साघनोको जुटाना यह समारम्भ पाप है और उस कार्यको करना यह आरम्भ पाप है,

और ये तीनो ही पाप कृतकारित अनुमोदनासे होते हैं, करे, कराये, और अनुमोदना करे। तो ये हो गए ३ × ३ = ६ और ये ६ ही पाप मन, वचन, कायसे होते है तो ६ × ३ = २७ और ये २७ ही प्राप क्रोधवश हों, मानवश हो, मायावश हों और लोभवश हो तो २७ × ४ = १०८ पाप होते हैं, इन १०८ पापोका त्याग होनेसे साधुवोको १०८ लिखा जाता है। २००८ न लिखना चाहिए क्योंकि साधु तो अरहंतसे बहुत निम्न दशामे है और प्रायः करके कुसाधु अधिक होते हैं। तो १००८ लक्षणोसे युक्त हैं प्रभु।

(१२६) तीर्थंकरोका आकार समचतुरस्रसंस्थान—एक अतिशय है कि तीर्थंकरके शरीरका आकार समचतुरस्रसंस्थान है। नाभिसे नीचे भी उतना ही लम्बा और नाभिसे ऊपर भी उतना ही लम्बा जितना हाथ होना चाहिए उतना हाथ, हर एक अग जिस आकारमे सही होना चाहिए उस आकारमे होता है, तो उनका संस्थान है समचतुरस्रसंस्थान। और उनका सहनन है वज्रवृषभनाराचसहनन याने वज्रके ही हाथ, वज्रके ही बेठन और वज्रकी ही कीली, जो इतना पुष्ट शरीर होगा वहाँ ही उपद्रव उपसर्ग आये तो उन्हें झेला जा सकता है और अपने ध्यानमे बाधा न आ सके और आत्मध्यानका कार्य निर्विघ्न हो लेगा, यही कारण है कि मोक्ष भी वज्रवृषभनाराचसंहननसे

बताया गया है। वज्रवृषभनाराचसंहनन पुरुषोंके ही होता है, महिलाओके नही होता।

यहाँ दिगम्बर शास्त्रोमे भी है ऐसा और श्वेताम्बर शास्त्रोंमें भी है। दोनोमे करणानुयोग करीब-करीब एक साथ चल, द्रव्यानुयोग भी एक साथ चला, पर चरणानुयोगमे बदल की और उस बदलका कारण यह है कि अपने आरामका ध्यान रखा कि हमको आराम बहुत रहे, कोई कष्ट न आये। इस आधारपर श्वेताम्बर साधुवोमे चरणानुयोगकी शिथिलता बढ गई है। वहाँ भी ग्रन्थोमे इतना नही लिखा। एक बार भोजन लिखा है भगवती सूत्रमे। कदाचित् कोई अत्यन्त रुग्ण हो, गम्भीर परिस्थिति हो तो, दूसरी बार जल औषधि जैसी अल्प चीज ले ले, पर जब किसी प्रकारका रोग ही नही तो वहाँ एक बारका ही आहार बताया। अब साधु लोग दुबारा तिबारा भोजन करने लगे, उनको उनके भक्तोने किसीने रोका नही तो उनकी वह एक परिपाटी चल उठी। अब तो नये ग्रन्थ निर्माणमे लिख भी दिया कि ५-६ बार आहार लें। तो ५-६ बारका कोई अर्थ नही, जितनी बार आवश्यक हो उतनी बार लें। एक या दो बारकी शोभा देता, अधिक बारकी नही। इतनी इतनी बार तो गृहस्थ लोगोको भी अशोभनीय लगता। तो अपने आरामका ख्याल रखकर वह चरणानुयोग है मगर दिगम्बर जैनदर्शनमे आरामका ख्याल नही रखा और न उसमे

बदल किया, अगर मुनि बनते नही बनता तो तुम श्रावक ही रहो, वहाँ ही धर्मसाधना करो, पर साधु हो तो जो साधुवोके मूल गुण है उनके अनुसार ही चलना योग्य है। बडे-बड़े कठिन उपद्रव भी आयें तो भी वे वज्रवृषभनाराचसंहननमे समतापूर्वक सह लिए जाते हैं, और यह वज्रवृषभनाराचसंहनन महिलाओके नही होता।

दूसरी बात—दोनों ही जगह यह लिखा है करणानुयोग मे कि वज्रवृषभनाराचसंहननसे मोक्ष होता है तो अपने आप ही सिद्ध हो गया कि स्त्रियोको मोक्ष नही है। अगर कोई बात कुछ सत्य लिखे या बोले तो यह ख्याल नही रहता कि यह पोल हमारा वहाँसे खुल सकता है, यह झूठ हमारी वहाँसे सिद्ध हो सकती है तो जल्दी-जल्दीमे लिख तो देते हैं मगर उनकी वह बात करणानुयोगसे सगत नही बैठती। वज्रवृषभनाराचसंहनन एक पुष्ट सहनन है और यह तीर्थंकरोके जन्मसे ही होता है। तो तीर्थंकरके ये १० अतिशय जन्मसे ही होते हैं, अब आगे कुछ बढे, मुनि हुए, केवलज्ञानी हुए तो उनके १४ अतिशय तो देवकृत हैं जिन्हे देव करते हैं और १० अतिशय केवलज्ञान होनेपर होते ही हैं। तो वे देवकृत अतिशय क्या हैं?

(१३०) केवलज्ञानीके १० अतिशय—एक तो अर्द्धमागधी भाषा होना, तीर्थंकरका वचन किसी भाषारूपमें नही है।

उनकी दिव्यध्वनि है। तीर्थंकर दिगम्बर जैनशासनमे किसीसे बोलते नही हैं, बातचीत नही करते। अच्छा आप ही अदाज लगा लें कि यदि उनसे बातचीत करनेका सिलसिला बनता है—आपका प्रश्न सुनें, उसका उत्तर दें तो इसमे कुछ न कुछ राग है कि नही ? पूर्वमे वीतराग होनेपर वचनालाप न बनेगा। जिसमे वचनालाप बनता है उसमे राग अवश्य है। चाहे प्रशस्त राग कहो, चाहे कुछ। तो तीर्थंकरके अपने समयमे दिव्यध्वनि खिरती है वह भव्य जीवोके पुण्यसे और उनके वचनयोगसे दिव्यध्वनि ओकारके रूपमे खिरती है। उसको जो लोग सुनते हैं वे अपनी-अपनी बुद्धिमाफिक उसका अर्थ लगाते है, अपने प्रश्नोका समाधान करते हैं और गणधर देव जैसे कि महावीर स्वामीके गणधर गौतम हुए, वह द्वादशाङ्गकी रचना करते हैं, पर तीर्थंकरसे कोई प्रश्न करता हो, तीर्थंकर उसको जवाब देते हो, यह क्रिया वहाँ नही है। प्रश्न करने वालेकी तो मशा है, कुछ भी बोले। यहा प्रतिमाके आगे भी वह कुछ प्रश्न कर सकता। पर तीर्थंकरके राग नही है इसलिए वहा वचनालापकी प्रवृत्ति नही है, समयपर दिव्यध्वनि खिरती है। हाँ इतना तो अवश्य हो जाता है कि असमयमे अगर चक्रवर्ती आये तो असमयमे भी दिव्यध्वनि खिरने लगती, सो वह कही भगवानमे यह चक्री आया है इसलिए हमे दिव्यध्वनि खिरना चाहिए ऐसा उनके राग नही उठा, किन्तु चक्रवर्तीका पुण्य ही

ऐसा है कि मेघ बरस जाय, दिव्यध्वनि खिर जाय, कुछ हो जाय। तो जैसे मेघ बरसते हैं तो क्या वे ऐसा जानकर बरसते हैं कि इस गांवमे न बरसे, यहां पापी लोग रहते है, इस गांवमे बरसें, यहाँ पुण्यवान लोग रहते हैं, मेघके ऐसा भाव नही होता, पर जीवोके पुण्य पापका प्रभाव ऐसा है कि वैसा योग हो जाता है। और भगवानकी दिव्यध्वनि सर्व भाषाके लोगोको सुनाई दे, जो जिस भाषाका है और दूर तक सुनाई दे, यह प्रबध देवकृत होता है। आज भी सुनते हैं कि सयुक्त राष्ट्रसघ वगैरह बडी जगहोमे ऐसे-ऐसे यत्र हैं कि जिनके द्वारा एक भाषामे बोला जानेपर वह अनेक भाषाओरूप परिणत हो जाता है, वहांपर बैठे अनेक भाषाओके लोग उसे अपनी अपनी भाषामे समझ लेते हैं। (हमने देखा तो नही ऐसी मशीन, पर सुना अवश्य है) तो यह अर्द्धमागधी भाषा देवकृत अतिशय है।

(१३१) **अरहंत भगवानका अतिशय जीवोमें परस्पर मैत्रीभाव व दिशा आकाशका निर्मल होना**—अरहत भगवान के ३४ अतिशयोमे देवकृत अतिशय १४ होते हैं, जिनमे पहला अतिशय है अर्द्धमागधी भाषा। दूसरा अतिशय है परस्पर मित्रताका होना। तीर्थंकर केवली भगवान लोकमे उत्तम पुरुष है, उनके निकट भी कोई जीव लडता रहे तब तो बडा गजब हो जायगा। वहाँ जो पहुचता है वह अपना बैर भाव सब

छोड देना है और परस्पर मित्रतासे रहा करता है । जो जाति से ही विरोध रखते हैं वे जीव भी समवशरणमे पहुचते हैं और परस्परमे पास पास बैठकर मित्रतासे सुनते हैं । तो यह अरहंत भगवानका एक अतिशय है । अतिशय तो प्रभुका ही है मगर उसमे कुछ देवोंका आवागमन और उनका निरीक्षण ये सब होनेसे इसका भी प्रभाव है । जैसे कोई बडा वक्ता आया है, मानो किसी समाजमे कोई ज्ञानी पुरुष आया है और समाजके लोग ही उसके पास न आयें या उपेक्षा करें तो अन्य छोटे लोगो पर उसका प्रभाव कैसे हो सकता है ? तो बडे लोगो का आना यह एक ऐसा प्रभावक होता है कि दूसरे लोग भी उससे प्रभावित होते हैं । तो समवशरणमे प्रभु विराजे हैं, उनकी तो महिमा है ही, मगर देव लोगो का जो प्रवन्ध है, आना जाना है और चमत्कार है वह भी इस वातावरणमे सहयोगी है । जीव परस्पर मित्रताको पाते हैं, पर मुख्यता है प्रभुके सान्निध्यकी । प्रभुकी उपस्थितिमे एक अतिशय यह है कि दिशायें, आकाश निर्मल हो जाता है । जिससे कोई बाधा न आये । वहां न गर्मीकी बाधा न सर्दीकी, न बरसातकी, समवशरणमे प्रभु जब विराजे होते हैं तो वहाँ देव और इन्द्रों का प्रबन्ध होता है, दिशायें निर्मल होती हैं ।

(१३२) तीर्थंकर परम देवकी सन्निधिका अतिशय षड् ऋतुवोके फल फूलका होना, चरणकमलके नीचे स्वर्णकमल

की रचना होना — एक अतिशय यह है कि छहो ऋतुवो के फल फूल फलने लगते है, किसी भी समय तीर्थंकर विराजे हों तो उस समयके ऋतुके फल फलने लगते हैं, यह बात तो है ही मगर आगे और पीछेकी ऋतुओ के फल भी फलने लगते हैं। यह बात तो कुछ वैज्ञानिक ढंगसे अब भी की जाती है। दक्षिण प्रान्तमे चावलके पेड सालके बारहो महीने फलते फूलते हैं, आम तो अब भी बारहो महीने फलते फूलते है, और फिर जहां प्रभु विराजे हो वहां तो यह अतिशय होना कोई आश्चर्यजनक बात नही है, एक अतिशय यह है कि पृथ्वी काचके समान निर्मल हो जाती है। धूल न रहे, कटक न रहे, कांचके समान पृथ्वी साफ रहे, ये सब देवकृत अतिशय है मगर हुए प्रभुके सान्निध्यके कारण, इसलिए प्रभुका अतिशय कहा जाता है। जैसे जब कोई मिनिस्टर या राष्ट्रपति अपने गाव या नगर मे आता है तो नगरपालिका बहुत बढिया सफाई करती है तो बताओ वहां अतिशय किसका माना जायगा ? उस मिनिस्टर या राष्ट्रपतिका, क्यो कि सफाई करने वाले तो कार्यकर्ता है, झाडने वाले हैं, पर अतिशय है उस मुख्य नेताका, ऐसे ही प्रभु गमन करते हैं, विहार करते है तो अन्य लोग भी उनके साथ बिहार करते है, उन विहार करने वालो को उस समय पृथ्वी बिल्कुल निर्मल काचके समान लगती है। देवो मे ऐसी वि-

क्रिया होती है कि जिस कामको मनुष्य वर्षभरमे कर पावें उस कामको देव एक मिनटमे ही कर दें। एक अतिशय यह है कि जब भगवान विहार करते हैं तो उनके चरण कमलके नीचे स्वर्णकमल रचे जाते हैं और वे सब कमल २२५ रहते हैं। आगे बढते जाते हैं और चारो ओरसे स्वर्णकमलकी रचना होती है। प्रभु उस कमलपर पैर नही रखते, वे तो अतरिक्ष हैं, आकाशमे ऊपर ही रहते है, पर बडे पुरुषोके लिए स्वागत इसी तरह हुआ करता है। तो एक अतिशय यह है देवकृत कि भगवानके चरणकमलके नीचे स्वर्णकमल रचते जाते हैं।

(१३३) प्रभुका अतिशय देवादिके द्वारा जयवादसे आकाश गूंजना, मंद गंधोदककी वृष्टि होना व भूमिका धनधान्य सम्पन्न होना, अष्टमगल द्रव्यका होना—एक अतिशय यह है कि आकाशमे जय-जयकी ध्वनि होती है, प्रभुकी जय, जिनेन्द्र देवकी जय। कौन करता है? मनुष्य भी और देव भी। जय जयके नारोसे आकाश गूज जाता है। कोई महापुरुष मुनि होकर तपोबलसे, समाधिबलसे परमात्मा हो गया तो वह तो एक इस लोकमे अनोखी बात है। उसके दर्शनको भी सर्व प्राणी तरसते है। और जय-जयके शब्दोसे आकाश गुजा देते हैं। एक अतिशय यह भी है कि उनके आगे-आगे एक धर्मचक्र चलता है। जिसके दर्शनसे लोगोके चित्तमे प्रभाव पडता है। जैसे धर्मचक्रकी शोभा ऐसी अद्भुत होती है कि दर्शन करते

ही लोगोके चित्तमे एक प्रभाव बनता है, भक्ति उमडती है और कोई महान् लोकोत्तम प्रभु आये है ऐसी भावनासे चित्त प्रसन्न हो जाता है, जब प्रभुका विहार होता है तब भी और समवशरणमे भी मद मद गन्धोदक वृष्टि होती रहती है याने इतनी मद गन्धोदक वृष्टि है कि भीगे नही और सुगन्ध आये, आताप दूर हो जाती है, ऐसा वहाँ देवकृत अतिशय होता है, उस समय भूमि धन धान्यसे पूर्ण हो जाती है, यह है प्राकृतिक अतिशय। जहाँसे प्रभुका विहार हो जाय वहाँ दुर्भिक्ष नही होता, सुभिक्ष ही रहता है प्रभुके निकट अष्ट मगलद्रव्य होते है। झाडी, पखा, दर्पण आदिक जो ८ मगलद्रव्य है वे उनके निकट होते हैं। ऐसी अद्भुत शोभा प्रजाजनोको आनद बरसाने वाला अतिशय प्रभुके होता है।

(१३४) केवलज्ञान होनेपर प्रभुताका अतिशय सौ सौ योजन तक सुभिक्ष होना, गगनगमन व अदयाका अभाव—केवलज्ञानके समयमे १० अतिशय है, जिसको केवलज्ञान हो जाता है तो ये १० अतिशय हुआ करते है। जहा प्रभु विराजे हो उसके १००-१०० योजन दूर तक दुर्भिक्ष नही रहता। कोई जीव दुःखी नही रहता, अन्नका अभाव नही रहता, पर्याप्त सब सामग्रियां मिलती हैं, जिस समय प्रभुको केवलज्ञान हो चुकता है तो वे आकाशमे ही गमन करते है। वे नीचे जमीनपर चलते हुए नही मिलते हैं। दर्शनीय प्रभु है,

उनसे बातचीत करना नही होता किसीसे। वे परमात्मा हैं। अगर बातचीत करेंगे तो वाक्य बोलकर, वहा ख्याल रखें कि मैं अब इसका उत्तर दूं, अगर दो तीन चारने प्रश्न किया तो उनको रोक रोककर सभीको उत्तर देंगे, ये सब बातें तो राग मे होती हैं। प्रभु अत्यन्त वीतराग हैं। उनका किसीसे वार्तालाप नही होता। अगर शास्त्रोमे कहीं वार्तालाप लिखा भी है तो उसका अर्थ यह है कि लोगोने कुछ गणधरसे पूछा तो गणधरने उत्तर दिया। तो जहा कोई मुख्य पुरुष विराजे हो उसका ही नाम लोग लेते हैं, पर प्रश्नोत्तर प्रभुके साथ नही होता। उनके तो समयपर दिव्यध्वनि खिरती है, उसमे ही लोग अपने आप सब समझ जाते है। वे प्रभु आकाशमे गमन करते हैं। उनके कोई निकट भी नही पहुचता कि प्रभुको छू लेवें। अरहत भगवानको कोई छूता नही, वे दूर रहते हैं, दर्शनीय है। उनका गमन आकाशमे होता है। वहा प्राणिवध नही होता जहाँसे वे प्रभु चले जायें, लोगोके भाव प्रकृत्या ही दयासे उमड़ जाते हैं।

(१३५) **प्रभुके कवलाहारका अभाव तथा उपसर्गका अभाव**—प्रभुके कवलाहार नही है याने प्रभु भोजन करें, कौर उठायें, खायें, निगलें, ऐसा आहार प्रभुके नही होता। चाहे वह लाखो वर्ष अरहत रहे पर उनके कवलाहार नही है, क्योकि आहारका सम्बध केवल वेदनीय कर्मसे नही है। मोहनीय कर्म साथ हो तो आहार बनता है। मोह-

नीय कर्मका तो प्रभुने विनाश कर दिया। फिर एक बात और सोचो—अरहत हैं, परमात्मा है और वे हाथमे खायें या थालीमें खायें, कौर उठायें और निगलें, यह तो छोटे छोटे पुरुषों की भाति बात है। अब इस दोषको छुपानेके लिए चाहे कुछ भी कह दिया जाय कि वह गुप्त होकर खाते हैं, लोगो को दिखता नही है तो यह तो और भी अधिक बुरी बात हो गई। मैं छुपकर खाऊँ, लोग मुझे खाते हुए देख न पायें ऐसी मायाचारीमे तो और भी दोषकी बात है। प्रभुमे कवलाहार का अभाव है। ससारमे ही जब देवगतिके जीव हजारो वर्षो तक उनके रचमात्र भी क्षुवा नही होती, फिर ये तो देवाधिदेव हैं, इनके कवलाहार नही है इनपर कोई उपसर्ग भी नही कर सकता। यह नियम है कि केवलज्ञानीपर, तीर्थंकर पर कोई उपसर्ग नही कर सकता। उससे पहले उपसर्ग होता है, पर केवलज्ञान जगनेपर उपसर्ग नही है। पार्श्वनाथ भगवान मुनि थे तब कमठने उनपर उपसर्ग किया। केवलज्ञानी न थे। जिन जिनको भी किसीने उपसर्ग किया वह मुनि अवस्था तककी ही बात है। परमात्मा हो जानेके बाद उनपर उपसर्ग नही होता।

(१३६) तीर्थंकर परमदेवका अतिशय चारो ओर मुखका दीखना व सर्वविद्यावोका स्वामी होना—प्रभुका मुख चारो ओर दिखता है। यदि ऐसा न हो तो बड़ी गड़बड़ी यो

मचे कि सभामे तो सब लोग आगे-आगे बैठते है, पीछेकी तरफ कोई बैठना नही चाहता, यदि उनको पीछेकी तरफ बैठना पड़ जाय तो उनमे असतोष और कलह बन सकता है। प्रभुका मुख होता तो एक तरफको मगर देवकृत अतिशय है कि उन का मुख चारो ओर दिखता है। आगे पीछे अगल बगल सभी तरफसे प्रभुका मुख दिखता है। कुछ यत्र ऐसे होते हैं, कि जिससे चारो ओर दिख सकता है। अभी यही देख लो किसी किसी प्रतिमाके तीन ओर कांच ऐसा लगा दिया जाता कि जिससे उस प्रतिमाका मुख किसी भी तरफसे देख लो, फिर वहाँ तो देवकृत रचना है, उसका क्या कहना। वहाँ एक ऐसा अतिशय होता कि भगवानका मुख तो है एक ओर मगर दिखता है चारो ओर, इसलिए प्रभुका नाम चतुर्मख भी है, चतुरानन भी है। ये प्रभु सर्व विद्यावोके स्वामी हैं। केवलज्ञान हो गया, उनमे सर्व कुछ झलक रहा तो अब कौन सी विद्या और कला उनके शेष कहे ?

(१३७) **अरहंतकी प्रभुताका अतिशय उनके शरीरकी छाया न पड़ना, नेत्रोका अनिमेष रहना व नख केशोका न बढ़ना**–प्रभुके शरीरकी छाया नही पडती क्योकि प्रभुका शरीर स्फटिक मणिके तुल्य सर्व दोषरहित हो जाता है। अब भी स्फटिक मणिकी मूर्ति हो तो उसकी छाया न मिलेगी, फिर उनका देह तो स्फटिक मणिसे भी उत्कृष्ट स्वच्छ है, उस शरीरकी

छाया नही पडती। प्रभुके नेत्र टिमकार नही मारते अर्थात् नीचे ऊँचे नही उठते, किन्तु अर्द्धनिमीलित (आधे बद और आधे खुले) होते हैं। अब देखो कितनी निश्चलता और कितनी वीतरागताका अतिशय है। प्रभुके केश और नख अब नही बढते। केवलज्ञान होनेसे पहले केश भी बढते थे, नख भी बढते थे, तो नखोको भी पत्थरसे घिस-घिसकर या किसी तरह उस की चिकित्सा रखते थे। अब केवलज्ञान होने पर न तो केश बढेंगे और न नख बढेंगे। ऐसे प्रभुके केवलज्ञान होनेपर १० अतिशय होते हैं। यो अरहंत परमेष्ठीके, तीर्थंकर परमदेवके बदनीय होनेके प्रकरणमे उनके अतिशय बताये गए है।

(१३८) अरहत तीर्थंकर प्रभुकी अनवरतवहुसत्त्वहितता व कर्मक्षयकारणनिमित्तता—प्रभुके दर्शनसे, प्रभुके उपदेशसे बहुत प्राणियोंका हित होता है, ऐसा उपदेश है उनका जिसमे सर्व प्राणियोका हित है। जैसे तत्त्वज्ञानकी बात, उसे जो सुनेगा, समझेगा, अपने ज्ञानमे उतारेगा, अनुभव करेगा उसको भगवंत आत्माकी प्राप्ति होती है। और जैसे चरणानुयोगका उपदेश, जीवोकी दया पालन, तो जो दया करेगा उसका उपकार हुआ। उसके अशुभ पापकर्म दूर हुए और जिनकी दया पली उनका भी उपकार हुआ कि वे सुखसे अपने जीवनमे चल रहे हैं, तो प्रभुके उपदेशसे सबका उपकार होता है और प्रभु कर्मक्षयके कारणमे निमित्त है। उनके गुणोका चिन्तन करनेसे अपने स्व-

रूपकी भावना जगती है, स्वरूपरमण होता है और अनेकों कर्मोंका क्षय होता है। इन बातोंसे अरहंतदेव पूज्य हैं। तो ऐसे पूज्य प्रभुके समवशरणमे विराजनेसे देवोने बहुतसे अतिशय बनाया, समवशरण आदिक विभूतियाँ बनायी तो भी प्रभुको किसी बातसे प्रयोजन नही। वे तो सकल ज्ञेयके जाननहार हैं तो भी अपने अनन्त आनन्दरसमे लीन हैं, जो होता है वह सहज हो रहा। जैसे मेघ बरसते है तो भव्य जीवोके पुण्योदय के अनुसार बरसते हैं। ठीक सही बरसते, न कम बरसते और न अधिक। तो जहाँके लोग अधिक पुण्यवान हो, वहाँ मेघ सही बरसते हैं, तो उन मेघोके बरसनेमे क्या मेघोकी इच्छा है? क्या वे यह सोचते हैं कि मैं इस जगह बरसूँ इस जगह नही? अरे मेघ ऐसा नही सोचते किन्तु जीवोके पुण्य प्रतापसे ऐसा होता है। ठीक इसी भाँति भगवानका विहार किस ओर होता है? क्या भगवान राग करके विहार करते हैं कि मैं इस नगरको जाऊँ, इस दिशामे न जाऊँ? अरे जहाके जीवोका पुण्य विशेष होता है वहां प्रभुका विहार हो जाया करता है। तो प्रभु कुछ भी इच्छा नही रखते, वे मोहनीय कर्मसे रहित हैं। शेष तीन घातिया कर्मसे भी रहित है, उनको किमी भी अणु मात्रसे प्रयोजन नही, किन्तु वे वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं। उस आत्माके गुणविकासका ऐसा माहात्म्य है कि जिससे ये सब अतिशय हो जाया करते हैं।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥

(१३६) **ज्ञान दर्शन चारित्र तपके साथ भावसंयम गुण का समायोग होनेपर मोक्षका लाभ**—इस गाथामे यह बताया है कि मोक्ष कैसे प्राप्त होता है। ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र और इनके साथ संयम गुण हो तो इन चारोके समायोग होने पर मोक्ष होता है, ऐसा जैन शासनमे कहा गया है। ज्ञान मायने जो पदार्थ जिस तरहसे अवस्थित है उसको उस रूपमे सही जानना और केवल जानना ही, उसके अन्दर इष्ट अनिष्ट बुद्धि न जगना, क्योंकि इष्ट अनिष्टकी जो कल्पनायें बनती है वह रागद्वेषका काम है, ज्ञानका काम नही है। ज्ञान की वृत्ति तो केवल प्रतिभास हो गया। तो ऐसा पदार्थोंका प्रतिभास होना, जानना होना यह कहलाता है ज्ञान दर्शन, जान लिया कि यह पदार्थ इस ही तरह है। और, ऐसा जानने के साथ यह भी जानन सहज बना हुआ है कि यह आत्महित है। तो आत्मतत्त्वको आत्महित रूपसे निरखनेकी जो एक स्वच्छता जगी है वह है दर्शन, चारित्र। अविकार स्वभाव ज्ञानमात्र जो आत्मतत्त्व है उसमे रम जाना यह कहलाता है चारित्र। तो इसके साथ जो सयम गुण बना भावसयम, अपने आपके आत्मामे सयत होना, यहां ही जब एक अलौकिक आनंद जगा है तो उपयोग यहांसे क्यो हटेगा ? आत्मामे ही उप-

योग रम रहा, ऐसे भावसयमसे सहित स्थिति बने तो उस जीवका मोक्ष होता है।

(१४०) **केवल स्वस्वरूपकी दृष्टि व रतिसे कैवल्यका लाभ**—मोक्ष होनेमे बात क्या बनती है ? जीव अकेला रह गया इसका नाम है मोक्ष। जीवके साथ अब एक अणुका भी सबध न रहा, संसार अवस्थामे तो सबंध बना है, मनुष्य कही जायगा तो शरीर साथ जायगा उसके साथ कर्म परमाणु जायेंगे, ऐसा बधन बँधा है, वहाँ न बधन है, न किसी प्रकारकी उपाधि है, ऐसा यह जीव अकेला हो गया उसको मोक्ष कहते है। जब दूसरा पदार्थ साथ ही नही है तो उसपर उपाधिका निमित्त ही क्या ? फिर विकार ही कुछ नही होता। तो जो विकार भावसे रहित हो गया, कर्मों से रहित हो गया, शरीरसे रहित हो गया, केवल ज्ञानज्योति ही रह गई उसको कहते हैं मोक्ष। जो कोई ससारके प्रेमी है वे इस स्थितिमे शका करेंगे। मगर जहाँ दु ख रच नही रहता, कल्पनाओका मूलत अभाव है शान्त तो उसको कहेगे। तो जहाँ केवलज्ञानज्योति ही विराज रही है, दूसरे पदार्थका सबध नही तो वहाँ भूख कहाँसे लगेगी ? शरीर हो तो भूख लगे। शरीर है तो उसके साथ सारे कष्ट है, पर शरीररहित केवल ज्ञानज्योति रह गई, धर्म, अधर्म, आकाशद्रव्यकी तरह बिल्कुल शुद्ध स्वच्छ रह गया अब उसको कोई कष्ट नही हो सकता।

तो ऐसे अनन्त सुखोंका स्थान यह मोक्ष है। यह मोक्ष इन उपायोसे प्राप्त होता है। इन उपायोंमे सबसे प्रधान बात यह है कि अकेला रह जाना है तो वह किस साधनसे अकेला रहे ? वह जीव ससारभवमे भी चरम शरीरमे भी अपने आपको ऐसा ही अविकार अकेला निरखता है बद्धदशामे भी, जीव तो केवल चैतन्यस्वरूप है। ऐसा अकेला यहाँ निरखा तो उस अकेला निरखनेकी साधनासे यह प्रकट अकेला हो जाता है। तो ऐसे इन दर्शन ज्ञान चारित्रके उपायोसे ऐसा अकेला रह जाना इस ही को जिनशासनमे मोक्ष कहा है।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्त।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥

(१४१) **मनुष्यका सार ज्ञान**—पूर्व गाथामे बताया गया था कि ज्ञान दर्शन चारित्र और तप इनके साथ संयमका समायोग होनेपर मोक्ष होता है। तो ज्ञान दर्शन चारित्रको इसमे श्रेष्ठता बताते हैं। पुरुषका सार ज्ञान है। जैसे मनुष्यजन्म पाया है तो इस मनुष्यजन्ममे सारभूत चीज क्या है ? जब कोई कहे कि धन दौलत सार है तो धन दौलतसे न इस समय शान्ति है और न मरनेपर साथ जायगा, और उसके कारण अनेक आपत्तियाँ भी हैं। वह सार कहाँ रहा ? हर एक बात पर चिन्तन कर लो कि आत्मासे बाहरकी कोई भी बात मेरे आत्माके लिए सार नही है। लोग परिवार कुटुम्बको बड़ा

सार समझते हैं। है क्या वहां ? जैसे खुद संसार अशुद्ध है ऐसे ही वे संसारी जीव भी अशुद्ध हैं, खुद मलिन हैं। वे मेरे लिए सार क्या ? वे भिन्न हैं। मेरे लिए सार क्या ? प्रत्येक जीव अपनी ही भावनासे अपने ही भावसे अपने आपकी परिणति करता है, उससे मेरा सम्बध क्या ? मोहवश मूढतासे सम्बन्ध मान लिया है केवल। तो मनुष्योंको सार क्या है ? एक ज्ञान अपना ज्ञान अपना स्वरूप है। कही भी यह जीव रहे, जाये तो ज्ञान कभी छूटता नही है। इस ज्ञानके लिए किसी दूसरेसे भीख मांगना नही पडता कि मुझे ज्ञान दो। अपनेमे से अपना ही ज्ञान प्रकट होता है और ज्ञान सही हो गया तो उसमे बडी शान्ति है। कुछसे भी कुछ बिगड गया, जहां सही ज्ञान बनाया, फिर क्या बिगाड ? बाहरी चीज थी, यहां न रही वहां चली गई। उसमे बिगाड क्या हुआ ? शाति मिल गई। तो मनुष्यका सार ज्ञान है, जिसका ज्ञान सही नही अथवा दिमाग़मे खराबी है, ज्ञानका उलट-पुलट चलता है वह तो महादुःखी है। कितना भी वैभव हो, ज्ञान अगर उल्टा चल रहा है तो उसे शान्ति नही मिल सकती। वैभव नही है और ज्ञान सही है तो जिस कर्मके उदयसे हम मनुष्य हुए हैं वह कोई पुण्यकर्म ही तो था। तो जिस पुण्यके उदयसे मनुष्य हुए उसी पुण्यके फलमे गुजारा भी चलेगा। अब कोई पुण्यसे ऊँचा गुजारा चाहे तो यह उसकी गल्ती है। दूसरे—बहुत बड़े

(धनिक) लोगोको देखकर कि मेरे भी उतनी कारें हों, मेरे ऐसे पहरेदार हो, ऐसी ही सेना हो आदि कुछ भी सोचे तो यह उसकी गल्ती है। क्यो सोचना ऐसा ? क्या प्रयोजन ? आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो वह अपने ज्ञानकी ही दृष्टि रखे। इन बाहरी चीजोको तो बेकार समझे। इस बाहरी संग समागमको तो कीचड, कलक समझें, उसमें आदर बुद्धि न करें, उससे अशान्ति ही मिलेगी।

(१४२) पुरुषका सार सम्यक्त्व—मनुष्यका सार क्या है ? ज्ञान, और उसमे भी सम्यग्ज्ञान याने जब सम्यक्त्व हो तब ही तो ज्ञान सम्यक् बनता है। सम्यक्त्वके मायने स्वच्छता हो जाना, अनन्तानुबधी कषाय न रहे, मोह न रहे तो वहाँ जो अभिप्राय शुद्ध हो गया वह स्वच्छता सम्यक्त्व कहलाती है। तो इस पुरुषको सार क्या है ? सम्यक्त्व है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान यह वैभव है। अगर पुण्योदयसे बडे हुए हैं धन समागमसे भी, और और बातोसे भी तो उसका कर्तव्य है कि अपना बडप्पन सही बनावें। यह जो झूठा बडप्पन है दुनियाका यह धोखा है, यह सब रहनेका नही है और इस ही भवमे उलट-पलट भी हो सकती। इससे बडप्पन न माने। आत्माका अगर धर्मका बडप्पन आ गया तो यह संसारी बडप्पन तो स्वयमेव ही हुआ करे। चक्रवर्ती कही कमाई करके छह खण्डका राज्य पाता है क्या ? पुण्यका उदय है, पा

लिया, उसका थोडा नियोग है कि वह देखने जाता है, उसका तब भी भाव निर्मल होता है कि हमारे इस छह खण्डके भरत क्षेत्रमे किसी भी राज्यमे अन्याय नही है। कोई भी राजा किसी प्रजापर अन्याय न करे, यह उसका भाव है, और इसी भावसे वह सेना लेकर चलता है कि अगर कोई राजा उद्दण्ड है, कोई प्रजाको सताता है तो उसको मजा चखाया जाय। इसके लिए चक्रवर्ती दिग्विजय करता है। अनेकों लोग ऐसी शका कर बैठते कि शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ ये तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ती भी हुए और चक्रवर्ती दिग्विजय करता है तो इन तीनो के क्यो ऐसे भाव हुए कि मैं दूसरे राजाको अपने आधीन करूँ ? तीर्थंकरका तो इतना विशुद्ध अभिप्राय रहता कि सर्व जीव सुखी हो। तो वहां यह बात समझना कि वे सब जीव सुखी हो, इसी भावनासे वे दिग्विजय करते हैं। कोई राजा अगर उद्दण्ड हो, प्रजाको सताता हो तो उसे ठीक कर दें। अब एक प्रश्न और भी सामने खडा हो जाता कि मान लो कोई राजा ठीक है मगर चक्रवर्तीको अपना राजा नही मानना चाहता तो वह तो ठीक है, उसपर क्यो दिग्विजय हो ? तो भाई जो राजा चक्रवर्तीको नही मानना चाहता वह गर्विष्ट है, उद्दण्ड है, वह प्रजामे भी अन्याय करता होगा। यो उसकी उद्दण्डता देखकर चक्रवर्ती उसपर विजय करता है। सिर्फ एक उदाहरण है ऐसा जिसका उत्तर

देना कुछ कठिन है। बाहुबलिपर क्यों भरत चक्रवर्तीने आक्रमण किया ? बाहुबलि तो उद्दण्ड न थे, प्रजा सुखमे थी..., पर दिग्विजयका नियोग ऐसा होता है कि छह खण्डपर दिग्विजय चक्रवर्ती करता ही है। यदि कोई एक राजा भी वश मे रहनेसे रह गया तो चक्रका नगरीमे प्रवेश नहीं होता। यदि चक्र नगरीमे प्रवेश न करे तो वहां यह सलाह होती कि यह चक्र नगरीमे क्यो नही प्रवेश करता ? तो कुछ नियोग भी है वैसा। तो जो कुछ भी वैभव प्राप्त होता है वह सब भी पुण्य भावका फल है। कोई यहां कमायी करके चाहे कि इतना बडा वैभव हमको मिले तो वैसा होना कठिन है। और कोई ज्ञानी है तो वह चाहेगा ही क्यो ? क्या धरा है इस वैभवमे ? आत्माके स्वरूपको निरखें और उस ही मे तृप्त हो। उससे बढकर जगतमे कुछ भी चीज नही। आज जो वैभवसे हीन है और निर्मल परिणाम रख रहे हैं उनका वह परिणाम कभी निष्फल नही हो सकता। वह तो निमित्त नैमित्तिक भाव है। जैसे घड़ीमे सब पेंच पुर्जे सही है और उसमे चाभी भर दी गई तो वह तो चलेगी ही, वह निमित्त-नैमित्तिक भाव है, ऐसे ही आत्मामे निर्मल परिणाम हैं तो पुण्यबंध होगा ही और उसके विपाकमे क्यो न ऋद्धि वैभव मिलेगा ? किन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव अणुमात्रको भी अपना हितकारी नही समझता।

(१४३) सम्यक्त्वसे चारित्रका व चारित्रसे निर्वाणका लाभ—इस पुरुषकी सारभूत चीज ज्ञान है, सारभूत चीज सम्यक्त्व है और सम्यक्त्वसे आचरण बनता है। सम्यक्त्वसे ही ज्ञान बना समीचीन और सम्यक्त्वसे ही सम्यक्चारित्र बना, और सम्यक्चारित्र होनेपर निर्वाण होता है। यह दर्शनपाहुड नामक ग्रन्थ है। इसमे सम्यग्दर्शनकी महिमा बतायी गई है। सम्यग्दर्शन आत्माके सहज स्वरूपका अनुभवन होना, विश्वास होना यह सब सम्यक्त्वमे हुआ करता है। तो इस सम्यक्त्वकी यह महिमा है कि इसके हुए बिना ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही होता, चारित्र सम्यक्चारित्र नही होता और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोकी सम्पन्नता हो तब मोक्ष होता है। तो मोक्ष होता चारित्रसे और चारित्र सम्यग्ज्ञान पूर्वक हो तो सही है और सम्यग्ज्ञान होता है सम्यक्त्वके साहचर्यसे, इसलिए मुख्य प्रथम प्रारम्भिक सार चीज क्या है? सम्यग्दर्शन। जिसके सम्यक्त्व नही उसके तो प्रगति ही नही हो सकती। यह ससार एक गोरखधधा है, इसमे जो रहेगा, इसे जो छुवेगा, बस उसका वही फसाव हो जायगा। उस फसावका सुलझना, फिर उलझना, फिर सुलझना, फिर उलझना, बस यही दशा चलती रहती है। एक समस्या सुलझी तो दूसरी उलझी, फिर दूसरी समस्या सुलझी तो तीसरी उलझी, बस यही चक्र चलता रहता है। जब हम ज्ञानके रास्ते

से चलें तो हमारी सारी समस्यायें सुलझ जाती है। यह बात सम्यक्त्वके होनेपर होती है, इसलिए सारभूत चीज सम्यग्दर्शन है।

णाणम्मि दसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
चोण्ह पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो ॥३२॥

(१४४) **सम्यग्दर्शनादिकी आराधनाकी अनिष्फलता**—ज्ञान होनेपर, दर्शन होनेपर और सम्यक्त्वसहित तप होनेपर और चारित्र होनेपर जीव सिद्ध होता है, इसमे कोई सदेह नही। चार प्रकारकी आराधनायें बतायी गई हैं—(१) सम्यक्त्वकी आराधना (२) ज्ञानकी आराधना (३) चारित्रकी आराधना और (४) तपकी आराधना। सम्यक्त्वकी आराधना क्या है? जो सम्यग्दर्शनका विषय है अखण्ड सहज चिन्मात्र अंतस्तत्त्व, इसकी ओर प्रीति पूर्वक निहारना, इसमे ही हितका विश्वास रखना, मेरा हित मेरे सम्यक्त्वभावसे ही है, अन्य पदार्थसे नही है, ऐसे सम्यक्त्वको हित रूपसे निहारना यह सम्यक्त्वकी आराधना है। अपना परिणमन सम्यक्त्वरूप होना यह सम्यक्त्वकी आराधना है। दुनियामे दूसरो दूसरोके घर तो खूब जाये और जाने, पर अपने घरको न जाने, न रहे तो उसका गुजारा नही चल सकता। (यह एक लोक व्यवहारकी बात कह रहे हैं) तो परमार्थसे यह हो बात है। अपने धामको अपने स्वरूपको जानें कि यह कैसा स्वरूप है और अपने हो स्वरूपमे रमे तो उसका गुजारा है, वह आनन्द पाता है। जगत

में कोई सार नही ।

(१४५) **विवेकबलके बिना ही कायरताका योग**——जैसे कोई जुवा खेलने वाला किसी जुवाकी फडपर बैठ जाय और उसमे अपना आधा धन हार जावे जितना कि अपने पास लिए था और वह चाहे कि मैं अब यहाँसे चला जाऊँ, अपना आधा धन बचा लूं तो वहाँ फडपर बैठे हुए लोग उसे फडसे उठने नही देंगे । वे लोग ऐसी तानाकसी खीचेंगे कि वह उठ न पायगा फड पर बैठा ही रहेगा । जैसे—बस इतनी ही दम थी, ···और जीत गया तो भी वह वहाँसे उठ न सकेगा । वे फड पर बैठे हुए लोग ऐसी तानाकसी करेंगे कि बस चल दिए, तुम बडे खुदगर्ज निकले, जीत गए तो भगने लगे ···। यो वह फडसे उठ न सकेगा । तो ऐसी ही समझो कि यह सारा ससार जुवाका फड है । किस तरह यहासे कोई हटे ? बड़ा कठिन है, क्यो कि परिवारके लोग, अपने सगके लोग एक इस प्रकार व्यवहार करते हैं कि कुछ विरक्ति भी आये किसीमे तो लोग उसकी विरक्तिको ढानेका प्रयत्न करते हैं । किन्तु जो अत्यन्त कुशल व्यक्ति है वे किसीके बहकानेमे नही आते । जैसे जुवारी लोग चाहे कुछ भी कहे मगर जो चतुर होगा वह तो उठकर चल ही देगा, ऐसे ही जो ज्ञानी पुरुष है वह किसी भी वैभव या परिजनको देखकर उनके आकर्षणसे अपना जीवन नही खोता, अपना विवेक बनाता है । ज्ञानीका विवेक यदि यह

कहता है कि गृहस्थीमें रहकर ही हम धर्मसाधना ठीक निभा पायेंगे, घर छोडकर हम इस स्थितिमे न निभा पायेंगे तो विवेक उसे घरमे रख रहा है, और जब कभी यह अपनेको समर्थ समझ ले तो विवेक ही उसे घरसे निकाल देता है। ज्ञानी पुरुष हर स्थितियोमे अपने विवेकसे काम लेता है। तो मुख्य बात तो सम्यग्दर्शन है और सम्यक्त्व हुए बाद उसे कुछ पूछना नही पडता। जो सही मार्ग है वह उसको सहज मिलता जाता है। तो ज्ञान होनेपर, सम्यग्दर्शन होनेपर जो तपश्चरण और चारित्र होता है तो ये चारो मिलकर मोक्षके हेतु बनते हैं।

(१४६) तप आराधनासे सिद्धि—तपश्चरण क्या? इच्छाओका निरोध। इस मनको बाह्य विषयोमे न जाने देना। कुछ सार ही नही बाहरमे। तुम किसके भोगनेकी इच्छा करते हो? तेरा हितरूप तो तेरा ज्ञानस्वरूप है, अपने ज्ञानमे अपने ज्ञानस्वरूपको लिए रह, इस ही मे तेरी भलाई है, बाह्य पदार्थ मे उसके इच्छा नही है यह ही तपश्चरण है, अब ये इच्छायें किस-किस प्रकारसे रुकें, कैसे-कैसे दूर हो, उनके ही उपायमे १२ प्रकारके तप बताये गए हैं। इन समस्त तपोमे इच्छाओ को दूर करना यह ही उद्देश्य बसा हुआ है। तो तपकी आराधना किया। यह तपश्चरण उसके लिए लिए हितरूप है इस स्थितिमे जहाँ कि इन्द्रिय और मन उद्दण्ड हो सक रहे

हैं। इनको निग्रह करनेका, इनको जीतनेका उपाय तपश्चरण है। तपश्चरणको आनन्द माना है। धूपमे बैठनेका आनन्द नही मानते, किन्तु धूपमे बैठे हुएकी स्थितिमे जो इन्द्रिय और मन अपने आप सही बन गए, विषयोकी इच्छा न रही, उससे जो भीतर ज्ञानके अनुभवनका, दर्शनका आनन्द है वह आनंद मिल रहा। लौकिक जन नो यह देखते है कि ऐसी कडी गर्मी मे तेज धूपमे बैठे ये मुनिराज कैसा तपश्चरण कर रहे मगर वे तो वहाँ अन्तः आनन्द लूट रहे हैं। जो आत्मस्वरूपपर दृष्टि है और उस ही मे ज्ञानका जो रमण है उसका वे अद्भुत आनन्द लूटते है। उस तपकी मनमे प्रशसा होना, उस तपश्चरण मे अपना प्रयत्न होना यह है तपकी आराधना। चारित्रकी आराधना। सम्यक्चारित्र ही साक्षात् मोक्षका हेतुभूत है। जैसे सीढियाँ होती हैं तो जो आखिरी ऊपरकी सीढी है उसपर पहुचनेपर महलमे पहुच सकते है। महलमे पहुचनेकी साधन वे सब सीढिया है, उन परसे गुजरनेपर जीव साक्षात् पहुच गया, तत्कालकी बात वह आखिरी सीढी है। तो सम्यक्चारित्र मोक्षके अति निकटका भाव है। सम्यक्चारित्रके मायने आत्मा आत्मामे रमण करे, ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया हो, ऐसी जो ज्ञानकी स्थिति है उसे कहते हैं सम्यक्चारित्र। तो ज्ञानी पुरुष इस सम्यक्चारित्रकी भावना रखता है। यो चारोका समायोग होनेपर जीव सिद्ध होता है। इसमे रच भी सन्देह नही है।

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥३३॥

(१४७) **कल्याणपरम्परासे सम्यक्त्वलाभ व सम्यक्त्वसे कल्याणपरम्परापूर्वक मुक्तिलाभ**—निर्मल सम्यग्दर्शन होना यह एक ऐसा उत्तम रत्न है कि जिसके बलपर यह जीव कल्याणकी परम्परा सहित उच्च पदको प्राप्त करता है । तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है । तो वहाँ यह आवश्यक नही है कि मुनि हो सो वह तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करे । इतना तक भी आवश्यक नही है कि वह श्रावककी ११ प्रतिमामे हो तब तीर्थंकर प्रकृतिका बध कर सके । सम्यक्त्व चाहिए । अविरति सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान बाला मनुष्य भी तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर लेता है । तो सम्यक्त्व भी निर्मल हो और साथ ही समस्त जीवोके कल्याणकी भावना हो तो तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता है । जो जैसा परिणाम करता है उस उस प्रकारसे उसका भवितव्य बनता है । चूकि तीर्थंकर प्रकृतिके बँधते समय लोक कल्याणकी भावना थी तो अब तीर्थंकर प्रकृतिके उदय होनेपर लोककल्याण होता रहता है । खोटे भाव कोई करे तो खोटी बात उसके सामने आती है और भली बात करे कोई तो भली बात सामने आती है ।

(१४८) **भावानुसार कर्मबन्ध व कर्मोदयानुसार देह-रचना**—कर्म ८ प्रकारके है और प्रत्येकके अनेक प्रकार है

सो शास्त्रमे १४८ भेद बताये गए है मगर ये १४८ ही नही है, असख्यात हैं, अनगिनते हैं। जैसे पञ्चेन्द्रिय जाति और मनुष्यगतिका उदय होनेपर मनुष्य हुए मगर उसके अगोपांग नामकर्म है एक, उसके उदयसे अङ्ग हुए, नाक है, कान हैं, मुख है, ये सब बने, मगर एककी नाक लम्बी, एककी ऊँची, एककी चपटी, ··यो जितनी भी नाकें हैं उन सबमे भेद है। उतने ही उन कर्मप्रकृतियोमें भेद हैं। उतनी ही बात नही, कान, नाक, हाथ, पैर, एकके एकसे नही मिलते, कुछ न कुछ फर्क है, तो ऐसा फर्क होना उस उस प्रकारकी प्रकृतिका उदय है तो ये कितने फर्क आप पहिचान सकते ? कोई गिनती न बन सकेगी। अनगिनते फर्क है मनुष्य ही मनुष्यमे, तो इतनी तरहके तो नामकर्म हो गए, अब गुणविकासकी बात देखो— एकमे कम ज्ञान, एकमे अधिक ज्ञान, एकमे उससे अधिक ज्ञान अथवा एकमे प्रेम, एकमे द्वेष, कम प्रेम, अधिक प्रेम, यो कितनी ही तरहकी बातोमे अन्तर देखा जाता है। ये अन्तर स्वभावसे तो होते नही कि जीव अपने स्वभावसे अन्तर डाल लेता हो। यह अन्तर उपाधिके सम्बधसे होता है। तो जितना आपको अन्तर नजर आया उतनी ही आपकी कर्म उपाधि है। तो जीव जैसे भाव करता है उस प्रकारके कर्मका बन्ध करता है।

(१४६) सम्यक्त्व और विश्वकल्याण भावनाका फल

तीर्थंकरत्व—जिन्होंने सम्यक्त्वसहित होकर सर्व जीवोंके कल्याणकी भावना की उन्हे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता और पचकल्याणक उनको प्राप्त होता। तो जिसके निर्मल सम्यक्त्व है वह कल्याणकी परम्परा सहित तीर्थंकर न हो तो और तरहके वैभव सुख मिलें, उनकी परम्परासहित यह प्रगति करता है। अथवा जो कल्याण है, उपाय है, साधन हैं उनके उपायसे यह विशुद्ध सम्यक्त्वको पाता है। वह सम्यग्दर्शन देव, सुर असुर इन्द्रादिकके द्वारा पूज्य है। सम्यग्दर्शनसे युक्त कोई छोटी जातिका भी मनुष्य हो वह भी देवो द्वारा पूज्य होता है। तो वहाँ भी वह मनुष्य नही पूजा गया, किन्तु सम्यग्दर्शन ही पूजा गया। ऐसा सम्यग्दर्शन रत्न ही इस पुरुषको सारभूत है। अन्य किसी भी बाह्य पदार्थका महत्त्व चित्तमे न लावें, एक सम्यक्त्वका ही महत्त्व चित्तमे लावें।

लद्धूण य मणुयत्त सहिय तह उत्तमेण गुत्तेण।
लद्धूण य सम्मत्त अक्खयसुक्ख च मोक्ख च ॥३४॥

(१५०) **मनुष्यत्वकी दुर्लभताके प्रकरणमे अनादिवासका कथन**—उत्तम गोत्रसे सहित मनुष्यपना पाकर और सम्यक्त्वको पाकर यह जीव अविनाशी मोक्षसुख प्राप्त करता है। पहले तो मनुष्यपना मिलना ही दुर्लभ है। इस जीवका अनादि वास निगोदमे रहा, कबसे रहा, इसकी कोई म्याद नही ? अनादिसे ही रहा। जिस किसी प्रकार कोई कर्मयोग हुआ तो

निगोद पर्यायसे निकलता है, कर्मयोगके मायने यह है कि जीव जिन कर्मोंका बन्ध करता है उसी समय उन कर्मोंमे प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध ये चारो निश्चित हो जाते हैं और हिसाब यह रहता है कि स्थितिके अनुसार जैसे जैसे आगे आगे समयमे परमाणु बँटते हैं वैसे वैसे परमाणु तो कम होते जाते हैं और अनुभाग बढ़ता जाता है। तो ऐसे पहलेके अनेक समयोके बद्ध कर्म एक समयमे उदयमे आ रहे हैं तो उनके अनुभागका अनुपात होता है। जैसे कोई १० दवाइयोकी एक गोली बना ली जाय तो पृथक् पृथक् दवाइयोका असर अन्य-अन्य है और १० दवाइयोको एकमे मिलाकर दवा बनानेका असर दूसरा है। उनका असर उनके अनुपात माफिक है। ऐसे ही एक समयमे जो उदय चल रहा वह अनुपात माफिक है। वह अनुपात जब कभी मद दशाका आये और वही आयुबन्ध हो, गतिबन्ध हो और सुविधाजनक बातें होती हैं। कितने ही निगोद तो मनुष्यभवका बन्ध करके सीधे मनुष्यभव पा लेते हैं, पर यह अत्यन्त विरलोको होता है।

(१५१) **निगोदसे निकलकर अन्य स्थावरोमे जन्म लेनेकी दुर्लभता**—निकलनेका तारतम्यके अनुसार क्रम यह है कि निगोदसे निकले तो अन्य स्थावरोमे जन्म लेता है, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पति,

इन स्थावरोमे जन्म लेता है। निगोद कहलाता है साधारण वनस्पति। साधारण वनस्पतिसे निकला और इन ५ प्रकारके एकेन्द्रियोमे उत्पन्न हुआ, अब यहाँ भी कुछ वश नही है, क्योकि मन नही है। जहाँ तक मन नही वहां तक कुछ वश नही चलता कि यह जीव अपना कोई पुरुषार्थ बनाये और तरक्की करें। वहाँ जो भी तरक्की होती है वह कर्मोदयकी मदतामे होती है। जैसे कोई मनुष्य नदी पार कर रहा है तो नदीमे अगर पूर अधिक है, तेज है तो वहां पार होना कठिन है, चलकर पार कर ही नही सकता और यदि नदीका वेग हल्का हो जाय तो वहां पौरुष चल जाता है।

(१५२) स्थावरोंसे निकलकर त्रसपर्याय पानेकी दुर्लभता—एकेन्द्रिय जीव भो कोई अवसर पाकर दोइन्द्रिय जाति का बध करके दोइन्द्रियमे उत्पन्न हो लेता है। त्रस पर्यायमे अब आया है, दो इन्द्रिय जीव मरकर तीन इन्द्रियमे पैदा हुआ तो यह उसकी प्रगति है, वहासे और प्रगति हुई तो तीन इन्द्रियसे मरकर चार इन्द्रियमे आया, चार इन्द्रियसे मरकर असज्ञी पञ्चेन्द्रियमे आया, असंज्ञी पञ्चेन्द्रियसे मरकर सज्ञी पञ्चेन्द्रियमे आया, तो सज्ञी पञ्चेन्द्रियमे नाना प्रकारकी स्थितियाँ हैं। मेढक, चूहा, बिल्ली, कुत्ता आदि नाना प्रकार की जातियां हैं, उनमे उत्पन्न हुआ और कदाचित् और बड़ा

बना जैसे घोडा, बैल, भोटा, गधा, ऊँट, हाथी आदि तो वहाँ भी बहुत-बहुत बोझ लादा गया, बधन किया गया, बध किया गया। यो नाना प्रकारके दुःख भोगता है। अगर वहाँ कोई निर्बल है तो उसे बलवान पशुओने खाया और अगर बलवान हो तो क्रूर परिणामका होनेसे अपना जीवन बिगाडता है, अनेक पापोका बध करता है। तिर्यञ्चगतिमे उसने बहुत पाप किया तो मरकर मानो यह नरकमे गया। यह कोई नियम नही है जैसा कि विकास बताया जा रहा है। तिर्यञ्च मरकर मनुष्य भी हो जाय, देव भी हो सकता, पर यहाँ तारतम्यके अनुसार उसके क्रममे यह बात बतला रहे हैं कि नरक गतिमे जन्म लेकर इसने बडे कठिन दुःख भोगे।

(१५३) नरकगतिके प्राकृतिक दुःख—वहाँ प्राकृतिक दुःख क्या क्या हैं ? तो वहाँकी भूमि ही ऐसी है कि उस भूमिके छूनेसे ही कठिन दुःख होता है। और उपमा दी है कि हजारो बिच्छू काटें तो भी उतना दुःख नही होता जितना कि नरककी भूमि छूनेसे होता है। तो क्या भूमिके स्पर्शमे ऐसी वेदना सम्भव है ? हां सम्भव है। यहा भी तो देखो—अगर बिजलीका करेन्ट भीतमे या फर्शमे आ गया तो उसपर पैर धरना कठिन हो जाता है। वहाँ सारी पृथ्वी ऐसी है कि जिस भूमिके छूनेसे नारकी जीवोको इतना दुःख होता है कि हजारो बिच्छुवोके डसनेपर भी उतना दुःख नही होता। और क्योजी,

वहां कभी कभी देव भी तो जाते हैं सम्बोधनेके लिए। असुर कुमार जातिके देव तो लडनेके लिए जाते है। तो जो देव वहाँ पहुचते हैं क्या उन्हे भी वहांकी भूमि छूनेसे दुःख होता है ?.... नही होता। यह फर्क कैसे पड गया ? तो यह सब पुण्य पाप का खेल है। सीताका जीव प्रतीन्द्र रावण व लक्ष्मणको सम्बोधनेके लिए नरकोमे गया तो उसे तो वहांकी भूमि छूनेसे दुःख नही हुआ। यहाँ भी तो देखा जाता कि जब रबडके जूते पहिनकर कोई आ जाय फर्शमे और वहां हो बिजलीका करेन्ट तो वह करेन्ट उसके तो नही लगता और जो नगे पैरो वाला कोई आ जाय तो उसके वह करेन्ट लग जाता। यह फर्क तो यहां भी देखा जाता। फिर वहाँ तो कुछ देहका भी फर्क है और पुण्य पापका महान् अन्तर है जिससे नरकोमे प्राकृतिक दुःख अधिक है, जिन्हे कोई देता नही और होते रहते है। वहा ठड और गर्मी इतनी पडती है कि मेरुके बराबर लोहा हो तो वह भी गल जाय, पर ऐसी ठंड गर्मीमे उन्हे रहना पडता है। तो प्राकृतिक दुःख वहां हैं।

(१५४) **नरकगतिमे पारस्परिक दुःख**—नारकी परस्पर दुःख पहुचावें सो वह भी दुःख है। एक नारकी दूसरे नारकी को देखकर जैसे यहां एक कुत्ता दूसरे कुत्तेको देखकर गुर्राता है बुरी तरह लडता है, सारा बल लगाकर, दांत निकालकर गुस्सेमे होकर, चिपटकर एक दूसरेको चीथता है, यह उनका

जातिस्वभाव है, ऐसे ही नारकी जीवोमे परस्पर एक दूसरेको देखकर ऐसा क्रोध जगता है, बैर जगता है कि वे तिल-तिल बराबर देहके टुकडे कर डालते हैं, मगर उनके पापका उदय है ऐसा कि तिल तिल बराबर टुकडे भी हो गए और तुरन्त वे जुड गए, देह बना है फिर ज्योका त्यो । वे मरते नही हैं । एक नारकी जीव ऐसे हैं जो अपना मरण चाहते हैं, पर मरण नही हो पाता । बाकी तीन गतियोके जीव ये मरना नही चाहते । यह तो स्वय नारकियोने एक दूसरेको तकलीफ पहुचायी और केवल इतनी ही बात नही, उनका शरीर ऐसा वैक्रियक है कि कोई नारकी चाहे कि मैं इसके सिरपर कुल्हाडी मारू तो बस भाव करते ही हाथ उठाया कि हाथ कुल्हाडा बन जाता है । तो ऐसी कठिन वेदनायें नारकियोमे परस्पर होती रहती है । इसके अतिरिक्त दूसरे भी दुःख दिलाने वाले होते हैं ।

(१५५) असुर द्वारा भिड़ाये जानेका नरकगतिमे दुःख— असुर जातिके देव जिन्हे अम्बा, वरीष, उपजाति कहते हैं असुर भी सभी नही भिडाते, उनमे भी जिनको कौतूहल है, जिनको मूढता है वे ही जान-बूझकर भिडाते हैं । जैसे यहाके कोई-कोई मनुष्य तीतर, मुर्गा, बकरा, झोटा आदिको उन्हें परस्परमे लड़ाते हैं और उसे देखकर मौज मानते हैं तो ऐसा काम सभी मनुष्य तो नही करते । जिनकी खोटी प्रकृति है

वे ही लड़ाते हैं, ऐसे ही सभी असुर जातिके देव उन नारकियो को नही लडाते, किन्तु जिनकी प्रकृति खोटी है वे ही लड़ाते हैं। किस तरह लडाते है ? उनको ऐसा याद दिलाते है कि देख तेरा यह पूर्वभवका बैरी आया। तेरा इस इस तरहसे कत्ल किया था, और वहा जो भी नारकी होते है चाहे वे पूर्वभवके संबधी ही क्यो न हो, वहा पहुचते ही प्रकृत्या उनमे बैर हो जाता है। मां ने अगर बच्चेकी आंखमे अजन डाला हो, सलाईसे अजन लगाया हो और मां बेटे दोनो नरकमे पहुंच जायें, एक दूसरेको देखें तो बेटा कुअवधिज्ञानसे ऐसा जानेगा कि उसने मेरी आंखमे तकुआ चुभोया था, मेरी आंख फोडना चाहा था, यो उल्टा अवधिज्ञान (कुअवधिज्ञान) होता है, तो वहाँ असुर जातिके देव एक दूसरेको भिड़ाते हैं, उनकी पहलेकी घटनायें याद कराते हैं। तो यह प्रेरणा वाला कष्ट है वहाँ। ऐसा सागरो पर्यन्त कष्ट भोगता है नारकी जोव।

(१५६) दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर भी अज्ञानवश प्रमाद—मान लो किसी नारकीके कुछ भले भाव हुए और उसने मनुष्यायु बांध ली, वह मनुष्य बन गया। मनुष्य कोई भी बन सकता है। तिर्यञ्च भी बन जाते मगर एक क्रम मनमे रखकर बोल रहे है। मनुष्य होनेपर सब जानते ही है कि यहा कितने कष्ट हैं, कोई नीच कुलमे उत्पन्न होता, वहांकी अनेक तरहकी बाधायें, अत्यन्त दरिद्रता आयी उसकी वेदना, उप-

द्रव आते हैं वह भी वेदना। उनको रोग भी अनेक हुआ करते हैं उसका भी कष्ट, असगति मिले, अज्ञानमे बढ गए उसका भी कष्ट। तो ऐसे अनेक कष्टोमे इस जीवका समय गुजरा और बड़ी मुश्किलसे यह मनुष्यभवमे आया। मनुष्यभवसे मानो देवगतिमे पहुचा तो देवगतिमे भी नरक्कीका कोई उपाय नही, शारीरिक सुख या अन्य काल्पनिक मौज तो अनेक हैं, मगर कल्पनायें उन्हे दुःखी भी करती हैं। किसी भी तरह यह जीव उत्तम गोत्रके मनुष्यमे उत्पन्न हुआ तो इसके मोक्षमार्गमे-चलने की बुद्धि नही आयी तो वह भी व्यर्थ। आत्महितकी बुद्धि जगे तो यह मनुष्यभवका पाना भी सफल है। तो किसी प्रकार उत्तम गोत्रसे सहित मनुष्यपना पाया, वहाँ यह प्रयास करना चाहिए कि मेरेको आत्माके सही स्वरूपका बोध हो, सम्यक्-स्वरूपके सायने अविकार जाननमात्र जैसी अपनी सत्तामे अपना भाव है उसरूप अपनेको अनुभव करना, यह है सम्यक्त्व। तो ऐसे सम्यक्त्वको पाकर यह जीव और आगे बढ़े। जिसमे हित और शान्ति समझा है, जिस स्वरूपको औपाधिक परभावोसे निराला देखा है उसमे उपयोगको स्थिर करनेका पौरुष करें, और इस प्रकार यह जीव अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त करता है।

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं सजुत्तो।
चउतीसअइसयजुदो सा पडि मा थावरा भणिया ॥३५॥

(१५७) प्रभुविहारकी विशेषता—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके प्रतापसे यह जीव अरहत परमात्मा होता है, तीर्थंकर परमात्मा होता है। तो तीर्थंकर हुए बाद, केवलज्ञानी हुए बाद उनके भव्योके उपकारके लिए विहार होता है। प्रभु नही यह विचार करते हैं कि मैं इस जगतके जीवोका कल्याण करूँ, यहाँ चलूँ। वे तो अब वीतराग हो गए। यह भाव उन्हे पहले रहा था विश्वकल्याणका और उसीका निमित्त पाकर तीर्थंकर प्रकृतिका बध हुआ था अब तो वह वीतराग है और ऐसा मालूम पडता है जैसे कि स्थावर प्रतिमा हो। मायने जैसे प्रतिमा किसीसे कुछ बोलती नही क्योकि उसे किसीसे राग नही। राग तो चेतनके साथ आता है, उस अचेतन पदार्थमे राग कहाँ। राग पहले था प्रभुमे मगर अब मिट गया, वीतराग बन गए। तो वीतराग होनेपर ऐसा लगता कि जैसे ससारी जीवोमे पायी जाने वाली हलन चलन क्रिया, सज्ञा, चेतन इनसे निराला है। वहाँ देव और इन्द्र उनकी भक्तिमे बहुत बडे-बडे अतिशय करते है। सो अतिशय सहित वीतराग सर्वज्ञ सकल परमात्मा होते हैं। उनका विहार वहाँ होता है जहाँके भव्य जीवोका अच्छा भाग्य होता है। सो विहार भी होता है और समयपर उनकी दिव्यध्वनि भी खिरती है सो ऐसा समझिये कि जैसे बादल भी तो चलते हैं और गरजते भी है, पर उन बादलोमे कोई संकल्प या राग

नही होता कि मैं चलूं या गरजू, मगर होती तो है ये दो बातें मेघोमे भी, ऐसे ही अरहंत भगवानमे संकल्प न होनेपर भी राग विचार नही आते, ऐसा विहार होता है और दिव्यध्वनि खिरती है, तो उसमे कारण जीवोका भाग्योदय है।

(१५८) सुलक्षणसंयुक्त प्रभुका जगतपर उपकार—ये जिनेन्द्रदेव जो १००८ लक्षणोसे सहित हैं, जैसे कि प्रतिमाओ मे दिखता है कि वक्षस्थलपर बीचमे एक निशान उभरा हुआ रहता है, वह उन सब लक्षणोमें प्रधान लक्षण है ऐसे ही अनेक लक्षण पैरमे, हाथमे, सिरमे, अंग अगमे अनेक शुभ लक्षण होते हैं और इसके अतिरिक्त ज्ञानविषयक तो कितने ही लक्षण बताये जायें। इन सब लक्षणोसे युक्त अरहंत जिनेन्द्र ३४ अतिशयोसे सहित जब तक विहार करते है तब तक वे मानो थावर प्रतिमा ही है, क्योकि किसीसे बातचीत वे करते नहीं, इन सब प्रसगोमे चाहे मोटा राग न हो पर कोई छोटा सूक्ष्म राग कारण है जो मात्रा अक्षर बदल-बदलकर बोला जाता है। ये अरहंत प्रभु कब तक विहार करते है। जब तक कि ये अपना योग निरोध नही करते। जैसे किसीके अरब खरब वर्षकी आयु है, अरहंत होनेपर भी, तो वे अरब खरब वर्षों तक विहार करते रहते हैं, समवशरणकी रचना होती है, दिव्यध्वनि खिरती है।

(१५९) प्रभुका योगनिरोध व मुक्तिलाभ—कुछ समय

शेष रहनेपर, कोई १५ दिन शेष रहनेपर, कोई और कम बढ़ शेष रहनेपर योगका निरोध करते हैं मायने विहार दिव्यध्वनि आदिक ये सब बद हो जाते है, यह कहलाया स्थूलनिरोध। एक ही जगह आसनसे रह गए, जरा भी हिले डुले नही, इतने पर भी भीतरमे प्रदेशोका योग चलता रहता है, सो यह योग धीरे-धीरे नष्ट होता है। मनोयोग नष्ट हुआ, फिर वचनयोग नष्ट हुआ, श्वासोच्छ्वास दूर हुआ, ये सब योगमे आते हैं, निरोध होता है ऐसा, फिर औदारिक काययोग रह गया और उनका समुद्घात होना हो तो औदारिक मिश्र, फिर कार्माण काययोग, फिर औदारिक मिश्र, फिर कार्माण काययोगमे आ गया, उसके बाद सूक्ष्मयोगका भी निरोध होता है। तब वहाँ तीसरा शुक्लध्यान जगता है, इसे कहते हैं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती। उस ध्यानसे, उस योगसे कोई मनसे ध्यान नही करता। कोई कोशिश नही है, ध्यान भी कुछ नही है। मगर कर्मोंका निर्जरण देखकर उसको ध्यान कहते है। उसके बाद अयोगकेवली होता है और फिर सिद्ध हो जाता है। तो वे सकल परमात्मा वीतराग होनेके कारण ऐसा दर्शनीय हैं कि चेष्टाकी ओरसे तो थावर प्रतिमाकी तरह लगते और भीतर गुणविकासकी ओरसे वे सारे लोकालोकके जाननहार है। वे परमात्मा बदनीय हैं। अब इस दर्शनपाहुडमे अन्तिम गाथामे यह बतलाते हैं कि जीव कर्मका नाश कर मोक्षको प्राप्त करते

है।

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेणस्सं।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ ३६ ॥

(१६०) रत्नत्रयगर्भित तपोबलसे अनुत्तर निर्वाणकी प्राप्ति—बारह प्रकारके तपोंसे सहित अपने आत्माको आत्मा मे रमानेके विधानके बलसे कर्मोंका नाश करके यह देहरहित होते हैं और अनुत्तर याने सर्वोत्कृष्ट जो निर्वाणपद है उसको प्राप्त करते हैं। पहले साधक दशामें तपश्चरणकी साधनासे तपश्चरणमे अध्यात्मदृष्टि स्थिर करके साधनासे वे अपने विभाव विकारोका विनाश करते है, विभाव विकारके प्रक्षयसे कर्मोंमे फर्क होता है। कर्मोंका क्षय होता है और कर्मोंके क्षय के बलसे आत्माके विकार दूर होते हैं, स्वभावदशा प्रकट होती है उसमे साधना तपश्चरणमे होती है और तपश्चरणमें रहकर साधना आत्मस्वभावकी उपासनाकी होती है। इस अंतस्तत्त्वके विधानसे वे देहरहित होते हैं। जो शेष चार अघातिया कर्म बचे थे वे सब एक साथ दूर हो जाते हैं। इन प्रभुको अनन्त सुख तो सकल परमात्माकी अवस्थामे ही मिल गया था, मगर जो उपाधियाँ छद्मस्थ अवस्थामे इस जीवके गुणोके घातमे सहायक बन रही थी वे चाहे अब उनकी सहायक नही हैं फिर भी आखिरमे उनकी आवश्यकता क्या है? उनकी स्थिति है, उनकी निर्जरा होती है और सब कर्मोंका

क्षय हो जानेपर उनको अनुत्तर आनन्द मिलता है। संसारमें अनेक अवस्थावोकी तुलना की जा सकती है। जीवकी जीवसे तुलना, आनन्दकी आनन्दसे तुलना। जैसे अमुक पदार्थके खाने मे ऐसा आनन्द आता जैसा कि अन्य अमुक पदार्थका..., मगर निर्वाणकी तुलना नही है। मोक्षमे किस प्रकारका आनंद है उसकी तुलना ससारकी किसी भी स्थितिसे नही हो सकती सो ऐसा वह निर्वाण सुख अनुत्तर सुख (अनुपम आनन्द) कहलाता है। सो यह अरहत परमात्मा, यह केवली गुणस्थान मे आकर जहाँ योग नही रहा रच भी, वहाँसे चार अघातिया कर्मोका विनाश होकर एक ही समयमे लोकके अग्रभागपर पहुच जाते है। तो ऐसे उत्तम आनन्दके लाभका मूल कारण क्या रहा? सम्यग्दर्शन। सब बात सम्यग्दर्शनसे प्रारम्भ होती। तो इस दर्शनपाहुड ग्रन्थमे सम्यग्दर्शनसे सम्बन्धित तत्त्वोपर प्रकाश डालकर सम्यक्त्व धारण करनेके लिए पुरुषार्थ करनेकी प्रेरणा दी गई है।

। दर्शनपाहुड प्रवचन समाप्त ॥

वास्तविकता

१– १०४२ जगतमे अनन्त आत्मा हैं और उससे अनन्त गुणे जड परमाणु हैं।

२– १०४३ वे सभी आत्मा व सभी अणु अनादिकालसे हैं, अनन्तकाल तक रहेगे।

३– १०४४ प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक अणु अपने आप सत् है, किसीकी कृपा या असरसे नही।

४– १०४५ प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी परिणतिसे ही परिणमते हैं, दूसरोकी परिणतिसे नही।

५– १०४६ आत्माकी दो अवस्थाएँ होती हैं, पहली अशुद्धावस्था, दूसरी शुद्धावस्था।

६– १०४७ जहाँ आत्माके परमे आत्मबुद्धि है, अपनी या परकी पर्यायमे रुचि है, वह उसकी अशुद्धावस्था है।

७– १०४८ जब आत्मा संकल्प विकल्पसे रहित हो जाता है ज्ञाता मात्र रहता है वह उसकी शुद्धावस्था है।

८– १०४९ प्रत्येक आत्मा व अणु परस्पर अत्यंत भिन्न हैं। किसीके स्वरूपमे किसीका प्रवेश नही है।

९– १०५० शरीर और आत्माका सम्पर्क होते हुये पशु, पक्षी, मनुष्यादिके रूपमे होना अज्ञान दशाका फल है।

१०– १०५१ अणुवोका काठ, पत्थर, ईंट, लोहा, सोना,

चांदी, शरीर आदि स्कंधरूपमे होना उनकी विकार परिणति का फल है।

११– १०५२ आत्मा निर्विकार होकर फिर कभी विकारी नही होता। परन्तु अणु निर्विकार होकर भी विकृत हो सकता।

१२–१०५३ आत्माके विकारका कारण पूर्वविकार है, अणुके विकारका कारण अणुके स्निग्ध रूक्ष गुणका परिणमन है।

१३– १०५४ किसी भी आत्मा या स्कंधके साथ अपना समवाय समझना अज्ञान है, दुःखका कारण है।

१४– १०५५ आत्मामे उठने वाली राग द्वेषादि तरंगें स्वभावसे नही है, इसीलिये नाशवान हैं व दुःख स्वरूप है।

१५– १०५६ पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं, जिसमे सामान्य अश तो ध्रुव है, विशेष अश अध्रुव है।

१६– १०५७ द्रव्यके त्रैकालिक, एकाकार (अखण्ड) स्वभावको 'सामान्य' कहते हैं, और उसकी प्रतिसमयकी अवस्थाओको विशेष कहते हैं।

१७– १०५८ "सामान्यकी दृष्टिमे विकल्प नही, विशेषकी दृष्टिमे नाना विकल्प है।"

१८– १०५९ जीवके गुणोका सामान्य स्वभावके अनुकूल विशेष (अवस्था) होना मोक्ष है, मुक्तात्माओमे इसी कारण

परस्पर विलक्षणता नही होती।

१९– १०६० मुक्तात्मा पूर्ण समान हैं, पूर्ण सर्वज्ञ हैं, जिनकी सत्य उपासना होनेपर उपासकके उपयोगमे कोई व्यक्ति नही रहता।

२०– १०६१ जिस भावमे व्यक्ति नही उस भावमे परमात्मा एक है, वह भाव है शुद्ध चैतन्य भाव।

२१– १०६२– कोई भी आत्मा परमात्मा होकर शुद्ध चैतन्य भावरूप ब्रह्ममे मग्न हो जाता, उससे विपरीत सत्ता वाला नही रहता।

२२– १०६३ यही एक सत्य है, यही कल्याण है, यही "ॐ तत् सत्" यही "सत् चित् आनन्द" यही "सत्य शिवं सुन्दर" है।

मुद्रक—सहजानन्द शास्त्रमाला प्रेस, सदर मेरठ।